देश-सेवकों के संस्मरण

—महात्मा गांधी की कलम से—
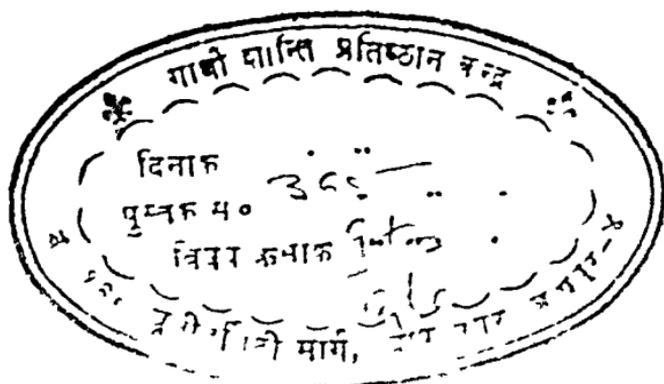
संपादक

विष्णु प्रभाकर

१९५८

सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली ।

नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद की सहमति से

पहली बार १९५८

मूल्य
एक रुपया·२५ नये पैसे

प्रकाशकीय

अपने समय के छोटे-बड़े अनेक देश-सेवकों और नेताओं के विषय में गांधीजी ने बहुत ही भावपूर्ण संस्मरण लिखे हैं। थोड़े-से-थोड़े शब्दों में उन्होंने ऐसे चित्र खींचे हैं कि पढ़कर हृदय गद्गद् हो जाता है। कहीं-कहीं तो ऐसा जान पड़ता है, मानो हम कोई कविता पढ़ रहे हों। जब शब्द हृदय की गहराई में से उठकर आते हैं तब प्रायः ऐसा ही होता है।

गांधीजी के लिखे इन संस्मरणों का एक विस्तृत संग्रह 'मेरे समकालीन' के नाम से 'मण्डल' से प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत पुस्तक की सामग्री उसी-में से ली गई है। बड़े संग्रह में कुछ ऐसे व्यक्तियों के भी संस्मरण आ गये हैं, जो सौभाग्य से आज हमारे बीच विद्यमान हैं। इस पुस्तक में केवल दिवंगतों में से ही कुछ चुने हुए संस्मरण लिये गये हैं। इन संस्मरणों को पढ़कर पाठकों को बहुत से देश-सेवकों का परिचय मिलेगा, वह भी ऐसे महापुरुष की कलम से, जिसके स्वयं के जीवन का प्रत्येक क्षण सेवा में ही व्यतीत हुआ था। वैसे तो इस पुस्तक को जो भी पढ़ेगा, उसीको लाभ होगा, लेकिन युवकों के लिए तो यह बहुत ही उपयोगी है।

हमें आशा है, प्रत्येक शिक्षा-संस्था के छात्र और छात्राओं के हाथ में यह पुस्तक पहुंचेगी और वे इससे देश-सेवा की शिक्षा ग्रहण करेंगे।

—मंत्री

आमुख

प्रसिद्ध गायक श्री दलीपकुमार राय से बातचीत करते हुए सन् १९३४ में गांधीजी ने कहा था—"जीवन समस्त कलाओं में श्रेष्ठ है। मैं तो समझता हूं कि जो अच्छी तरह जीना जानता है वही सच्चा कलाकार है। उत्तम जीवन की भूमिका के बिना कला किस प्रकार चित्रित की जा सकती है। कला के मूल्य का आधार है जीवन को उन्नत बनाना। जीवन ही कला है।"[1] साहित्य को इस दृष्टि से कला से अलग नहीं किया जा सकता। जीवन से इतना अटूट संबंध हो जाने के बाद वह नितांत सरल और सुगम हो जाता है। कदाचित ऐसे ही साहित्य को दृष्टि में रखकर गांधीजी ने इन्हीं श्री राय से कहा था, "वही काव्य और वही साहित्य चिरञ्जीवी रहेगा जिसे लोग सुगमता से पा सकेंगे, जिसे वे आसानी से पचा सकेंगे।" ऐसे साहित्य का सृजन वही कर सकता है, जिसने साहित्य के विषय से साक्षात्कार कर लिया है, अर्थात् जो उसे जीता है। इसीको गांधीजी की भाषा में यों कह सकते हैं कि जो अच्छी तरह जीना जानता है, वह साहित्यिक है। इस दृष्टि से वह एक ऊंचे साहित्यिक थे। निस्सदेह वह एक साहित्यिक के नाते आगे नहीं आये, और न उन्होंने कभी कवि, कथाकार या आलोचक होने का दावा ही किया. परंतु फिर भी जहांतक जीवनी-साहित्य, आत्मकथा, शब्दचित्र और संस्मरण आदि का संबंध है, उनकी पूंजी सहज ही उन्हें प्रथम श्रेणी के लेखकों में ला बैठाती है।

उनकी आत्मकथा (अथवा सत्य के प्रयोग) एक अपूर्व ग्रंथ है। वह सभी दृष्टियों से इस क्षेत्र में स्थापित सभी परंपराओं को खंड-खंड करनेवाली क्रांतिकारी पुस्तक है। उनके घोर-से-घोर विरोधी भी उनकी महानता को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं।

---

[1] हिंदी नवजीवन, १०-२-२४

वस्तुतः गांधीजी ने सच्चे अर्थ में 'आत्मकथा' लिखी है। जीवन में यदि कुछ गोपनीय रह जाता है तो आत्मकथा अधूरी है। सत्य और अहिंसा का परीक्षण करनेवाला वैज्ञानिक अधूरी आत्मकथा नहीं लिख सकता। जिस प्रकार उन्होंने अपना विश्लेषण करते समय सत्य को नहीं छोड़ा है, उसी तरह दूसरों के बारे में लिखते समय उन्होंने अहिंसा को अपना आधार बनाया है। इसलिए उनके साहित्य में, जहां उनकी पारदर्शिनी दृष्टि का चमत्कार है, वहां वह मानव के सहज सौंदर्य सहानुभूति से भी आप्लावित है। जब कभी उन्होंने किसीके बारे में लिखने के लिए कलम उठाई है, अपनी सरल, सुबोध और सुगठित भाषा में उस वर्ण्य व्यक्ति का बड़ा ही सहानुभूतिपूर्ण चित्र उतारकर रख दिया है।

वह कभी लिखने के लिए ही किसीका जीवन-वृत्त या संस्मरण लिखने बैठे हों, यह तो उनके लिए संभव नहीं था, परन्तु अपने बहुधंधी सार्वजनिक जीवन में उन्हें असंख्य छोटे और बड़े व्यक्तियों के संपर्क में आना पड़ा था। केवल भारत ही नहीं, दक्षिण अफ्रीका में भी अनगिनत देशी और विदेशी व्यक्तियों से उनका संबंध रहा था। बहुतों से वह संबंध अति प्रगाढ़ और आत्मीयता से छलकता हुआ था। बहुतों के साथ उन्होंने अपने संघर्षमय जीवन के अनेक वर्ष बिताये थे। कुछ के साथ वह कुछ ही दिन रहे थे। उनमें अनेक उनसे बड़े थे, जिनसे उन्होंने बहुत-कुछ सीखा था। बहुत-से उनसे प्रेरणा लेते थे और उन्हें अपना आराध्यदेव मानते थे। बहुत-से उनके विरोधी भी थे, जिनसे उन्हें टक्कर लेनी पड़ती थी। ऐसे भी लोग थे, जिनसे उनका कोई विशेष संबंध तो नहीं था, पर किन्हीं विशेष कारणों से गांधीजी की उन व्यक्तियों में रुचि थी। उन सब व्यक्तियों में जाति, लिंग, धर्म या वर्ग का कोई भेद नहीं था। उनमें राजनीति के धुरंधर पंडित और साधारण स्वयंसेवक, धर्माचार्य और श्रद्धालु भक्त, सम्राट् और सेवक, पूंजीपति और मजदूर, विद्रोही और प्रतिक्रियावादी सभी थे। सबके बारे में उन्होंने समान भाव और समान रूप से लिखा है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, लिखने के ये अवसर उनकी इच्छा के अनुसार नहीं आये। उस बहुधंधी व्यस्त जीवन में न जाने कब किसपर लिखना पड़ जाय, यह कोई नहीं जानता था। फिर भी ऐसे अवसर बहुत आये और

साधारणतया उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१ गाधीजी अपने सहयोगियो, समाज के मूक सेवको या किसी रूप मे प्रख्यात व्यक्तियो की मृत्यु पर समवेदना और श्रद्धाजलि के रूप में लिखा करते थे।

२ जब उनके सहकर्मियो और सहयोगियो पर आक्षेप होते थे, तब उनका निराकरण और समाधान करने के लिए उन्हे लिखना पडता था।

३ राष्ट्रीय महासभा के सभापति पद के लिए चुने जानेवाले व्यक्ति के बारे मे चुनाव के पूर्व या पश्चात् वह कभी-कभी लिखते थे।

४ अपने आदोलनो मे भाग लेनेवालो और उनके विरोधियो के विषय मे उन आदोलनो के दौरान मे वह लिखते थे।

५ 'आत्मकथा' और 'दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' आदि पुस्तको मे तत्सबधी व्यक्तियो का वर्णन आया है।

६ अनेक व्यक्तियो के जन्म-दिन या जयती आदि के अवसर पर पत्रो को सदेश और शुभ कामना के रूप में उन्होने लिखा है।

७ कभी-कभी विशुद्ध सपादकीय कर्तव्य को निबाहने के लिए लिखना पडता था।

८ निजी पत्रो मे व्यक्तियो की चर्चा आ जाती थी।

यदि उनके साहित्य का काल-क्रम से अध्ययन किया जाय तो एक बात ज्ञात होगी कि शुरू मे वह व्यक्तियो के बारे मे अधिक लिखते थे, परतु जैसे-जैसे समय बीतता गया, यह लेखन कम होता गया। जब से उन्होने 'हरिजन' पत्रो का प्रकाशन किया, तब से तो हरिजन-सेवको को छोडकर और किसी के बारे में वह उन पत्रो मे नही लिखते थे। इन पत्रो को छोडकर पुस्तक आदि लिखने का समय अब उनके पास नही रहा था। फिर भी इस सबध मे गाधीजी के एक गुण की बात विशेष उल्लेखनीय है। वह सपर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से, चाहे वह छोटा हो या बडा, विरोधी हो या सहयोगी, अधिक से-अधिक आत्मीयता स्थापित करने की चेष्टा करते थे। वह उनकी मानव-सुलभ भावनाओ को छूकर उनसे बाते करते थे। सबसे पहले वह मानव थे और दूसरो को भी मानव समझते थे और यह सब था अहिसा के कारण। इस दृष्टि से उनके सस्मरण अध्ययन की वस्तु है।

जैसे वह सरल और सशक्त भाषा लिखने में लासानी थे, वैसे ही वह शब्द-चित्र खींचने में भी बहुत कुशल थे। एक तो अपने जीवन के प्रति विशिष्ट वैज्ञानिक दृष्टिकोण (सत्य) के कारण, दूसरे विभिन्न विचार और व्यवहार के इतने अधिक व्यक्तियों के सपर्क मे आने के तथा मानवता (अहिंसा) में अपनी आस्था के कारण उनकी परख गहरी और खरी हो गई थी, और जब दृष्टि पारदर्शी हो जाती है, तो वणन स्वत ही सजीव और मार्मिक हो जाता है। वस्तुत किसी भी व्यक्ति का ठीक-ठीक चित्रण करने मे उन्हें अद्भुत कुशलता प्राप्त थी। कम-से-कम और नपे-तुले सार्थक शब्दों मे वह व्यक्ति के अदर और बाहर का चित्र कागज पर उतार कर रख देते थे। कुछ चित्र देखिये—

"सर फिरोजशाह तो मुझे हिमालय जैसे मालूम हुए, लोकमान्य समुद्र की तरह। गोखले गंगा की तरह। उसमे मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढना मुश्किल है, समुद्र मे डूबने का भय रहता है, पर गंगा की गोद मे खेल सकते है, उसमे डोंगी पर चढकर तैर सकते है।"

"शिष्य होना परम पवित्र, पर व्यक्तिगत भाव है। मैंने १८८८ में दादा भाई के चरणो मे अपनेको समर्पित किया, पर मेरे और उनके बीच बहुत दूरी थी। मैं उनके पुत्र के स्थान पर हो सकता था, उनका शागिर्द नहीं हो सकता था। शिष्य का दर्जा पुत्र से ऊचा है। शिष्य पुत्र-रूप से दूसरा जन्म लेता है। शिष्य होना अपनी स्वकीय प्रेरणा से समर्पित करना है। ... से मुझे भय लगता था। उनके सामने मुझे बचाव करना ... था। बदरुद्दीन तैयबजी पिता की तरह प्रतीत हुए। उन्होंने ... फिरोजशाह मेहता और रानडे के परामर्श मे काम करो। ... फिरोजशाह तो हमारे संरक्षक बन गये। इसलिए उनकी आज्ञा ... कुछ वह कहते, मैं चुपचाप स्वीकार करता। बंबई के ... पालन का मर्म सिखाया। उन्होंने मुझे अपना शागिर्द नहीं बनाया। ... आजमाइश भी नहीं की।"

"जिस समय मैं उनसे (लोकमान्य तिलक से) मिला, वह ... से घिरे बैठे थे। उन्होंने मेरी बातें सुनी और कहा—'आपका ... सार्वजनिक सभा में होना जरूरी है, पर आप जानते हैं कि यहां ...

इससे ऐसा सभापति चाहिए जो किसी दल-विशेष का न हो। यदि इसके लिए आप डाक्टर भाडारकर से मिले तो उत्तम हो।' मैंने उनकी सलाह स्वीकार की और लौट आया। सिवा इसके कि स्नेहमय मिलाप के भाव प्रदर्शित करके उन्होने मेरी घबराहट दूर की, नही तो लोकमान्य का उस समय मुझपर कोई अच्छा प्रभाव नही पडा। डाक्टर भाडारकर ने मेरा उसी तरह स्वागत किया, जिस तरह गुरु शिष्य का करता है। उनके चेहरे से विद्वत्ता टपक रही थी। मेरे हृदय मे श्रद्धा का ज्वार उमड आया, पर गुरु-भक्ति का भाव फिर भी न भरा। वह हृदय-सिहासन उस समय भी खाली रह गया। मुझे अनेक धीर-वीर मिले, पर राजा की पदवी तक कोई न पहुच सका।"

"पर जिस समय मै श्रीयुत गोखले से मिलने गया, बाते एकदम बदल गई। यह मिलन ठीक उसी प्रकार हुआ था, जैसे दो चिर-विछोही मित्रो या माता और पुत्र का होता है। उनकी नम्र आकृति देखकर मेरा हृदय शात हुआ। दक्षिण अफ्रीका तथा मेरे सबध में उन्होने जिस तरह पूछताछ की, उससे मेरा हृदय श्रद्धा से भर गया। उनसे विदा होते समय मैंने अपने दिल मे कहा, 'बस, मेरे मन का आदमी मिल गया।' १९०१ मे दूसरी बार दक्षिण अफ्रीका से लौटा। इस बार मेरी घनिष्ठता और भी प्रगाढ हो गई। उन्होने हाथ मे मेरा हाथ लेकर पूछना शुरू किया—'किस तरह रहते हो? क्या कपडे पहनते हो? भोजन कैसा होता है?' मेरी माता भी इतनी तत्पर नही थी। मेरे और उनके बीच मे कोई अतर नही था। यह चक्षुराग था, अर्थात् प्रथम दर्शन मे ही हृदय मे प्रगाढ प्रेम का अकुर जम गया था।"

इस उद्धरण मे गाधीजी ने भारत के तत्कालीन नेताओ का जो तुलनात्मक चित्रण उपस्थित किया है, वह उनकी पारदर्शिनी दृष्टि, उनकी विश्लेषण-शक्ति, उनकी तीव्र और प्रखर अनुभूति को स्पष्ट करता है। गोखले के चित्र मे कितनी आत्मीयता है, वह उनके अपने मानवता से छलकते हुए हृदय की झाकी है। श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपने जीवन-चरित मे गाधीजी के विचारो की अच्छी-खासी आलोचना की है, पर सबकुछ कहकर उन्होने लिखा है—'लेकिन वह अपने भारत को अच्छी तरह जानते है।"

अनुभूति की तीव्रता और वास्तविकता का और भी सुदर चित्रण उनके सस्मरणो मे हुआ है। घटनाओ और वार्तालाप के द्वारा उन्होने वर्ण्य

व्यक्ति की बाहरी और आन्तरिक सुन्दरता-कुरूपता को [illegible] इस प्रकार उभार दिया है कि उसमें पूर्ण परिस्थिति के साथ-साथ व्यक्ति का सम्पूर्ण चित्र हृदय पर पत्थर की लकीर बन जाता है। कस्तूरबा गांधी, [illegible], घोषालबाबू तथा बासन्ती देवी आदि के संस्मरण, इस दृष्टि से बहुत ही सुन्दर बने हैं। बासन्ती देवी का देशबन्धु की मृत्यु के बाद, जो चित्र गांधीजी ने खींचा है, वह बहुत ही मानवीय, बहुत ही करुण और बहुत ही यथार्थ है। भावना की अतिरंजना ने उस करुण चित्र को बहुत ही [illegible] बना दिया है।

ये चित्र किसी उद्बोधित साहित्यिक के द्वारा नहीं लिखे गये, बल्कि एक ऐसे मानव द्वारा लिखे गये हैं, जिसका समस्त जीवन 'जीने की कला' के, सत्य के, प्रयोग करने में बीता था, जिसने जीना सीखते-सीखते [illegible] (अहिंसा) को सीख लिया था, जो सबसे पहले और सबसे पीछे मात्र मनुष्य था और ऐसा मनुष्य ही मनुष्य को नहीं पहचानेगा तो कौन पहचानेगा।

इस पुस्तक के संकलन में जिन मान्य व प्रिय बन्धुओं ने मुझे सहायता दी है, उनका मैं हृदय से आभारी हूँ।

—विष्णु प्रभाकर

विषय-सूची

देश-सेवकों के संस्मरण

१

हकीम अजमल खां

एक जमाना था, शायद सन् '१५ की बात है, जब मैं दिल्ली आया था, हकीम अजमल खां साहब से मिला और डाक्टर असारी से। मुझसे कहा गया कि हमारे दिल्ली के बादशाह अंग्रेज नही है, बल्कि ये हकीम साहब है। डाक्टर असारी तो बडे डाक्टर थे, बहुत बडे सर्जन थे, वैद्य थे। वह भी हकीमसाहब को जानते थे। उनके लिए उनके दिल मे बहुत कद्र थी। हकीमसाहब भी मुसल-मान थे, लेकिन वह तो बहुत बडे विद्वान् थे, हकीम थे। यूनानी हकीम थे, लेकिन आयुर्वेद का उन्होंने कुछ अभ्यास किया था। उनके वहा हजारो मुसलमान आते थे और हजारो गरीब हिंदू भी आते थे। साहूकार, धनिक मुसलमान और हिंदू भी आते थे। एक दिन का एक हजार रुपया उनको देते थे। जहातक मै हकीम साहब को पहचानता था, उन्हे रुपये की नही पडी थी, लेकिन सबकी खिदमत की खातिर उनका पेशा था। वह तो बादशाह-जैसे थे। आखिर मे उनके बाप-दादा तो चीन मे रहते थे, चीन के मुसलमान थे, लेकिन बडे शरीफ थे। जितने हिंदू लोग मेरे पास आये, उनसे पूछा कि आपके सरदार यहा कौन है? श्रद्धानंदजी? श्रद्धानंदजी यहा बडा काम करते थे। लेकिन नही, दिल्ली के सरदार तो हकीमसाहब थे। क्यो थे? क्योंकि उन्होंने हिंदू-मुसलमान सबकी सेवा ही की। यह सन् '१५ के साल की बात मैने कही। लेकिन बाद मे मेरा ताल्लुक उनसे बहुत बढ़ गया और मैने उनको और पहचाना।[1]

---

[1] प्रार्थना-प्रवचन, १३-९-४७

वह हिंदुस्तान के हिंदू, मुसलमान, सिख, क्रिस्टी, पारसी, यहूदी सबके प्रिय थे। वह पक्के मुसलमान थे, मगर वह इस खूबसूरत देश के रहनेवाले सब लोगो की समान सेवा करते थे।[1]

हकीमसाहब के स्वर्गवास से देश का एक सबसे सच्चा सेवक उठ गया। हकीमसाहब की विभूतिया अनेक थी। वे महज कामिल हकीम ही नही थे, जो गरीबो और धनियो, सबके रोगो की दवा करता है। वह थे एक दरबारी देश-भक्त, यानी अगर्चे कि उनका वक्त राजो-महाराजो के साथ मे बीतता था, मगर थे वह पक्के प्रजावादी। वह बहुत बडे मुसलमान थे और उतने ही बडे हिंदुस्तानी थे। हिंदू और मुसलमान दोनो से ही वह एक-सा प्रेम करते थे। बदले मे हिंदू और मुसलमान दोनो ही एक समान उनसे मुहब्बत रखते थे, उनकी इज्जत करते थे। हिंदू-मुसलमान एकता पर वह जान देते थे। हमारे झगडो के कारण उनके अतिम दिन कुछ दु खजनक हो गये थे, मगर अपने देश और देश-बंधुओ मे उनका विश्वास कभी नष्ट नही हुआ। उनका विचार था कि आखिर दोनो सम्प्रदायो को मेल करना ही पडेगा। यह अटल विश्वास लेकर उन्होने एकता के लिए प्रयत्न करना कभी नही छोडा। हालाकि उन्हे सोचने मे कुछ समय लगा, लेकिन अत मे वह असहयोग-आदोलन मे कूद ही पडे, अपनी प्रियतम और सबसे बड़ी कृति तिब्बी कालेज को खतरे मे डालते वह झिझके नही। इस कालेज से उनका इतना प्रबल अनुराग था, जिसका अदाजा सिर्फ वे ही लगा सकते है, जो हकीमजी को भलीभाति जानते थे। हकीमजी के स्वर्गवास से मैने न सिर्फ एक बुद्धिमान और दृढ साथी ही खोया है, बल्कि एक ऐसा मित्र खोया है, जिसपर मै आडे अवसरो पर भरोसा कर सकता था। हिंदू-मुसलिम एकता के बारे मे वह हमेशा ही मेरे रहबर थे। उनकी निर्णय-शक्ति, गंभीरता और मनुष्य-प्रकृति का ज्ञान ऐसे थे कि वह बहुत करके

[1] प्रार्थना-प्रवचन, २९-१२-४७

नही लिखा उसमे मुझे खास तौर पर अपने ऊपर पाबन्दी लगानी पडी। ऐसा करके मैंने करीब-करीब अपने साथ जुल्म किया। मगर डा० अन्सारी के स्वर्गवास पर मुझे कोई ऐसा आत्म-निग्रह रखने की जरूरत नही। कारण यह है कि वे निःसन्देह हकीम अजमल खा की तरह ही हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के एक प्रतिनिधि थे। कडी-से-कडी परीक्षा के समय भी वह अपने विश्वास से कभी डिगे नही। वह एक पक्के मुसलमान थे। हजरत मुहम्मद साहब को जिन लोगो ने जरूरत के वक्त मदद की थी, वे उनके वशज थे और उन्हे इस बात का गर्व था। इस्लाम के प्रति उनमे जो दृढता थी और इस्लाम का उन्हे जो प्रगाढ ज्ञान था उस दृढता और उस ज्ञान ने ही उन्हे हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य मे विश्वास करनेवाला बना दिया था। अगर यह कहा जाय कि जितने उनके मुसलमान मित्र थे उतने ही हिंदू मित्र थे तो इसमे कोई अत्युक्ति न होगी। सारे हिंदुस्तान के काबिल-से-काबिल डाक्टरो मे उनका नाम लिया जाता था। किसी भी कौम का गरीब आदमी उनसे सलाह लेने जाय, उसके लिए बेरोक-टोक उनका दरवाजा खुला रहता था। उन्होने राजा-महाराजाओ और अमीर घरानो मे जो कमाया वह अपने जरूरतमद दोस्तो मे दोनो हाथो से खर्च किया। कोई उनसे कुछ मागने गया तो कभी ऐसा नही हुआ कि वह उनकी जेब खाली किये बगैर लौटा हो, और उन्होने जो दिया उसका कभी हिसाब नही रखा। सैकडो पुरुषो और स्त्रियो के लिए वह एक भारी सहारा थे। मुझे इसमे तनिक भी सदेह नही कि सचमुच वह अनेक लोगो को रोते-बिलखते छोड गये है। उनकी पत्नी बेगमसाहिबा तो ज्ञानपरायणा है, यद्यपि वह हमेशा बीमार-सी रहती है। वह इतनी बहादुर है और ईश्वर पर उनकी इतनी ऊची श्रद्धा है कि उन्होने अपने प्रिय पति की मृत्यु पर एक आसू भी नही गिराया। पर जिन अनेक व्यक्तियो को मै याद करता हू वे ज्ञानी या फिलासफर नही है। ईश्वर मे तो उनका विश्वास हवाई है, पर डा० अन्सारी मे उनका विश्वास जीवित विश्वास था। इसमे उनका कोई कसूर नही। डाक्टर-

साहव की मित्रता के उनके पास ऐसे अनेक प्रमाण थे कि ईश्वर ने जव उन्हे छोड दिया तव डाक्टरसाहव भी उनकी मदद तभी तक कर सके, जवतक कि सिरजनहार ने उन्हे ऐसा करने दिया। जिस काम को वह जीवित अवस्था मे पूरा नही कर सके, ईश्वर करे, वह उनकी मृत्यु के वाद पूरा हो जाय।[१]

: ३ :

वी अम्मा

यह मानना मश्किल है कि वी अम्मा का देहात हो गया है। वी अम्मा की उस राजसी मूर्त्ति को या सार्वजनिक सभाओ में उनकी वुलद आवाज को कौन नही जानता। वुढापा होते हुए भी उनमे एक नवयुवक की शक्ति थी। खिलाफत और स्वराज्य के लिए उन्होने अथक यात्राए की। इस्लाम की कट्टर अनुयायिनी होते हुए भी उन्होने देख लिया था कि इस्लाम का कार्य, जहातक मनुष्य के वस की वात है, भारत की आजादी पर आधारित है। इसी निश्चय के साथ उन्होने यह भी महसूस कर लिया था कि हिदुस्तान की आजादी हिदू-मुस्लिम-ऐक्य और खादी के बिना असभव है। इसलिए वह अविराम एकता का प्रचार करती थी। यह उनके लिए एक अटल सिद्वात हो गया था। उन्होने अपने तमाम विदेशी और मिल के कपडो का परित्याग कर दिया था और खादी इस्तेमाल करती थी। मौलाना मुहम्मदअली मुझसे कहते है कि वी अम्मा ने उन्हे यह हुक्म दे रखा था कि मेरे जनाजे पर सिवा खादी के और कुछ न होना चाहिए जव-जव मुझे उनके बिछौने के नजदीक जाने का सौभाग्य प्राप्त होता तव-तव वह स्वराज्य और एकता की वाते पूछती। उनके वाद ही प्राय वह खुदाताला से दुआ करती—"या खुदा, हिंदुओ और मुसलमानो

---

[१] हरिजन सेवक, १६-५-३६

को ऐसी अक्ल बख्शे कि जिससे ये एकता की जरूरत को समझे और रहम करके स्वराज्य देखने के लिए मुझे जिदा रहने दे।"

इस बहादुर और भद्र आत्मा की यादगार को बनाये रखने की सबसे अच्छी रीति यही है कि हम सर्व-सामान्य कार्यों के प्रति उनके उत्साह और उमग का अनुकरण करे। हिदूधर्म भी बिना स्वराज्य के उतना ही सकट मे है जितना कि इस्लाम। परमात्मा करे कि हिंदुओ और मुसलमानो को इस प्रारंभिक बात की कदर करने की बी अम्मा-जैसी बुद्धि दे। परमात्मा उनकी आत्मा को शाति और अली भाइयो को उनके सौंपे कार्य को जारी रखने की शक्ति दे।

बी अम्मा की मृत्यु की रात के उस गभीर और प्रभावकारी दृश्य का वर्णन किये बिना मै नही रह सकता। उस समय मुझे उनके पास ही रहने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ था। यह सुनते ही कि अब वह अपने जीवन की अतिम सासे ले रही है मै और सरोजिनीदेवी वहा दौडे गये। उनके कुटुब के कितने ही लोग आस-पास जमा थे। उनके डाक्टर और हितचितक डा० असारी भी मौजूद थे। वहा रोने की आवाज नही सुनाई देती थी, अलबत्ते मौ० मुहम्मदअली के गालो पर से आसू जरूर टपक रहे थे। बडे भाई ने बडी कठिनाई से अपने शोकावेग को रोक रखा था। हा, उनके चेहरे पर एक असाधारण गभीरता अलबत्ते थी। सब लोग अल्ला का नामोच्चार कर रहे थे। एक सज्जन अत समय की प्रार्थना गा रहे थे। 'कामरेड प्रेस' बी अम्मा के कमरे से इतना पास है कि आवाज सुनाई दे सकती है। परतु एक मिनिट के लिए वहा के काम मे गडबड नही हुई और न मौलाना ने ही अपने सपादकीय कर्तव्यो मे रुकावट आने दी। और सार्वजनिक काम तो कोई भी मुल्तवी नही किया गया। मौलाना शौकतअली ने तो सपने तक मे न सोचा था कि मै अपना रामजस कालेज जाना मुल्तवी करूगा। वह एक सच्चे सिपाही की तरह मुजफ्फरनगर के हिंदुओ को दिये गये निश्चित समय पर उनसे मिले, हालाकि

वी अम्मा की मृत्यु के वाद उन्हे तुरत ही वहा से चला जाना पडा था। यह सव जैसाकि होना चाहिए था, वैसा ही हुआ। जन्म और मरण ये दो भिन्न-भिन्न दशाए नही है, वल्कि एक ही दशा के दो भिन्न-भिन्न स्वरूप है। न मृत्यु से दुखी होने की जरूरत है, न जन्म से खुशी मनाने की।[1]

: ४ :

धर्मानंद कौसंबी

शायद आपने उनका नाम नही सुना होगा। इसलिए शायद आप दुख मानना नही चाहेगे। वैसे किसी मृत्यु पर हमे दुख मानना चाहिए भी नही, लेकिन इसान का स्वभाव है कि वह अपने स्नेही या पूज्य के मरने पर दुख मानता ही है। हम लोग ऐसे वने है कि जो अपने काम की डुग्गी पिटवाता फिरता है और राज्य-कारण मे उछाले भरता है, उसको तो हम आसमान पर चढा देते है, लेकिन मूक काम करनेवालो को नही पूछते।

कौसवीजी ऐसे ही एक मूक कार्यकर्त्ता थे। उनका जन्म गोवा मे हुआ था। जन्म से वह हिंदू थे, पर उनको ऐसा विश्वास वैठ गया था कि वौद्ध धर्म मे अहिसा, शील आदि जितने वढे-चढे है, उतने दूसरे धर्म मे, वेद-धर्म मे भी, नही है। इसलिए उन्होने वौद्ध धर्म स्वीकार किया और वौद्ध शास्त्रो के अध्ययन मे लग गये और उसमे इतने वडे विद्वान हो गये कि शायद ही हिदुस्तान मे उनकी वरावरी का और कोई हो। उन्होन गुजरात विद्यापीठ व काशी विद्यापीठ मे पाली भाषा पढाई और अपनी अगाध विद्वत्ता का ज्ञान-दान किया था।

उन्होने मेरे पास १०००) भेज दिये, जो किसीने उनको दिये थे। उन्होने मुझको लिखा था कि किसी-

---

[1] हिंदी नवजीवन, २३-११-२४

को पाली पढने के लिए लंका भेज देना । लेकिन मैंने उनसे पूछा कि क्या लंका जाकर पढने से किसीको बौद्ध धर्म प्राप्त हो जायगा ? मैंने तो दुनिया में बौद्धों से कहा है कि आपको अगर बौद्ध धर्म जानना है तो आप उसके जन्म-स्थान भारत में ही उसे पायेंगे। जहांपर वेद-धर्म से वह निकला है, वहीं आपको उसे खोजना है और शंकराचार्य-जैसे अद्वितीय विद्वान्, जो प्रच्छन्न बुद्ध कहलाये, उनके ग्रंथों को भी आप समझेंगे तब बौद्ध धर्म का गूढ रहस्य आप जान पायेंगे।

लेकिन कोसंबीजी की विद्वत्ता से मैं अपनी तुलना नहीं कर सकता। मैं तो इंग्लैंड में भोज खाकर बना हुआ बैरिस्टर हूं। मेरे पास संस्कृत का ज्ञान जरा-सा है। अगर आज मैं महात्मा बना हूं तो इसलिए नहीं कि अंग्रेजी का बैरिस्टर हूं, पर इसलिए कि मैंने सेवा की है और वह सेवा, सत्य और अहिंसा के द्वारा की है। उन सत्य और अहिंसा की पूजा में जो थोड़ी-सी सफलता मुझे मिलती चली गई उसीके कारण आज मेरी थोड़ी-बहुत पूछ है।

कोसंबीजी की समझ में यह समा गया कि अब यह शरीर अधिक काम करने के योग्य नहीं रहा है तो उन्होंने अनशन करके प्राण-त्याग करने की ठानी। टंडनजी के कहने पर मैंने उनका अनशन उनकी (कोसंबीजी की) अनिच्छा से छुड़वाया, पर उनका हाजमा बहुत खराब हो चुका था और कुछ भी खुराक ले ही नहीं सकते थे। तब दुबारा सेवाग्राम में चालीस दिन तक केवल जल पर ही रहकर उन्होंने शरीरान्त किया। बीमारी में नाममात्र की सेवा और औषधि भी नहीं ली। जन्म-स्थान गोवा में जाने का मोह भी उन्होंने तजा और अपने पुत्र आदि को अपने पास न आने की आज्ञा दी। मृत्यु के बाद के लिए कह गये, मेरा कोई स्मारक न बनाया जाय। शरीर को जलाने या दफनाने में जो सस्ता पड़े वह किया जाय और इस तरह उन्होंने बुद्ध का नाम रटते-रटते अंतिम गहरी निद्रा ली जो हरेक जन्मनेवाले को कभी-न-कभी लेनी ही है। मृत्यु हरेक का

पढाने की मुझे बडी चाह थी। पढाने की जितनी कोशिशें की वे सब प्राय बेकार गई। शिक्षक रखकर पढाने के मेरे यत्न भी विफल हुए। इसके फलस्वरूप कस्तूरबाई मामूली चिट्ठी-पत्री व गुजराती लिखने-पढने से अधिक साक्षर न हो पाईं।

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की लडाई के काम से मुक्त होने के बाद मैंने सोचा कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रीका में नही, बल्कि देश मे है। दक्षिण अफ्रीका मे बैठे-बैठे मैं कुछ-न-कुछ सेवा तो जरूर कर पाता था, परन्तु मैंने देखा कि यहा कही मेरा मुख्य काम धन कमाना ही न हो जाय।

देश से मित्र लोग भी देश लौट आने को आकर्षित कर रहे थे। मुझे भी जचा कि देश जाने से मेरा अधिक उपयोग हो सकेगा।

मैंने साथियो से छुट्टी देने का अनुरोध किया। बडी मुश्किल से उन्होने एक शर्त पर छुट्टी स्वीकार की। वह यह कि एक साल के अदर लोगो को मेरी जरूरत मालूम हो तो मैं फिर दक्षिण अफ्रीका आ जाऊगा। मुझे यह शर्त कठिन मालूम हुई, परन्तु मैं तो प्रेम-पाश मे बधा हुआ था। मित्रो की बात को टाल नही सकता था। मैंने वचन दिया। इजाजत मिली।

इस समय मेरा निकट-सबध प्राय नेटाल के ही साथ था। नेटाल के हिंदुस्तानियो ने मुझे प्रेमामृत से नहला डाला। स्थान-स्थान पर अभिनदन-पत्र दिये गये और हरेक जगह से कीमती चीजे नजर की गईं।

१८९६ मे जब मैं देश आया था तब भी भेटे मिली थी, पर इस बार की भेटो और सभाओ के दृश्यो से मै घबराया। भेट में सोने-चादी की चीजे तो थी ही, पर हीरे की चीजे भी थी।

इनसब चीजो को स्वीकार करने का मुझे क्या अधिकार हो सकता है? यदि मै इन्हे मजूर कर लू तो फिर अपने मन को यह कहकर कैसे मना सकता हू कि मै पैसा लेकर लोगो की सेवा नही करता था? मेरे मवक्किलो की कुछ रकमो को छोडकर बाकी

सब चीजे मेरी लोक-सेवा के ही उपलक्ष मे दी गई थी। पर मेरे मन मे तो मवक्किल और दूसरे साथियो मे कुछ भेद न था। मुख्य-मुख्य मवक्किल सब सार्वजनिक काम मे भी सहायता देते थे।

फिर उन भेटो मे एक पचास गिनी का हार कस्तूरबाई के लिए था। मगर उसे जो चीज मिली वह भी थी तो मेरी ही सेवा के उपलक्ष मे। अतएव उसे पृथक नही मान सकते थे।

जिस शाम को इनमे से मुख्य-मुख्य भेटे मिली, वह रात मैंने एक पागल की तरह जागकर काटी। कमरे मे यहा-से-वहा टहलता रहा, परतु गुत्थी किसी तरह सुलझती न थी। सैकडो रुपयो की भेटे न लेना भारी पड रहा था, पर ले लेना उससे भी भारी मालूम होता था।

मै चाहे इन भेटो को पचा भी सकता, पर मेरे बालक और पत्नी? उन्हे तालीम तो सेवा की मिल रही थी। सेवा का दाम नही लिया जा सकता था, यह हमेशा समझाया जाता था। घर मे कीमती जेवर आदि मै नही रखता था। सादगी बढती जाती थी। ऐसी अवस्था मे सोने की घडिया कौन रखेगा? सोने की कठी और हीरे की अगूठिया कौन पहनेगा? गहनो का मोह छोडने के लिए मै उस समय भी औरो से कहता रहता था। अब इन गहनो और जवाहरात को लेकर मै क्या करूगा?

मै इस निर्णय पर पहुचा कि वे चीजे मै हरगिज नही रख सकता। पारसी रुस्तमजी इत्यादि को इन गहनो का ट्रस्टी बनाकर उनके नाम एक चिट्ठी तैयार की और सुबह स्त्री-पुत्रादि से सलाह करके अपना बोझ हलका करने का निश्चय किया।

मै जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना मुश्किल पडेगा। मुझे विश्वास था कि बालको को समझाने मे जरा भी दिक्कत पेश न आवेगी। अत उन्हे वकील बनाने का विचार किया।

बच्चे तो तुरत समझ गये। वे बोले, "हमे इन गहनो से कुछ मतलब नही। ये सब चीजे हमे लौटा देनी चाहिए और यदि जरूरत होगी तो क्या हम खुद नही बना सकेगे?"

मै प्रसन्न हुआ। "तो तुम बा को समझाओगे न ?" मैने पूछा।

"जरूर-जरूर। वह कहा इन गहनो को पहनने चली है ! वह रखना चाहेगी भी तो हमारे ही लिए न ? पर जब हमें ही उनकी जरूरत नही है तब फिर वह क्यो जिद करने लगी ?"

परन्तु काम अदाज से ज्यादा मुश्किल साबित हुआ।

"तुम्हे चाहे जरूरत न हो और लडको को भी न हो। बच्चों का क्या ? जैसा समझा दे, समझ जाते है। मुझे न पहनने दो, पर मेरी बहुओ को तो जरूरत होगी। और कौन कह सकता है कि कल क्या होगा ? जो चीजे लोगो ने इतने प्रेम से दी है उन्हे वापस लौटाना ठीक नही।" इस प्रकार वाग्धारा शुरू हुई और उसके साथ अश्रु-धारा आ मिली। लडके दृढ रहे और मै भला क्यो डिगने लगा ?

मैने धीरे से-कहा, "पहले लडको की शादी तो हो लेने दो। हम बचपन मे तो इनके विवाह करना चाहते ही नही है। बडे होने पर जो इनका जी चाहे सो करे। फिर हमे क्या गहनो-कपडो की शौकीन बहुए खोजनी है ? फिर भी अगर कुछ बनवाना ही होगा तो मै कहा चला गया हू ?"

"हा, जानती हू तुमको। वही न हो, जिन्होने मेरे भी गहने उतरवा लिये है ! जब मुझे ही नही पहनने देते हो तो मेरी बहुओं को जरूर ला दोगे ! लडको को तो अभी से वैरागी बना रहे हो ! इन गहनो को मै वापस नही दूगी और फिर मेरे हार पर तुम्हारा क्या हक है ?"

"पर यह हार तुम्हारी सेवा की खातिर मिला है या मेरी ?" मैने पूछा।

"जैसा भी हो, तुम्हारी सेवा मे क्या मेरी सेवा नही है ? मुझ-से जो रात-दिन मजूरी कराते हो, क्या वह सेवा नही है ? मुझे रुला-रुलाकर जो ऐरे-गैरो को घर मे रखा और मुझसे सेवा-टहल कराई, वह कुछ भी नही ?"

ये सब बाण तीखे थे। कितने ही तो मुझे चुभ रहे थे। पर गहने

वापस लौटाने का मै निश्चय कर चुका था। अत मे बहुतेरी वातो मे मै जैसे-तैसे सम्मति प्राप्त कर सका।

जिस समय डरबन मे मै वकालत करता था, उस समय बहुत वार मेरे कारकुन मेरे साथ ही रहते थे। वे हिंदू और ईसाई होते थे, अथवा प्रातो के हिसाब से कहे तो गुजराती और मद्रासी। मुझे याद नही आता कि कभी उनके विषय मे मेरे मन मे भेद-भाव पैदा हुआ हो। मै उन्हे बिल्कुल घर के ही जैसा समझता और उसमे मेरी धर्मपत्नी की ओर से यदि कोई विघ्न उपस्थित होता तो मै उससे लडता था। मेरा एक कारकुन ईसाई था। उसके मा-बाप पचम जाति के थे। हमारे घर की वनावट पश्चिमी ढग की थी। इस कारण कमरे मे मोरी नही होती थी—और न होनी चाहिए थी, ऐसा मेरा मत है। इस कारण कमरो मे मोरियो की जगह पेशाब के लिए एक अलग वर्तन होता था। उसे उठाकर रखने का काम हम दोनो—दपती का था, नौकरो का नही। हा, जो कारकुन लोग अपने को हमारा कुटवी-सा मानने लगते थे वे तो खुद ही उसे साफ कर डालते थे, लेकिन पचम जाति मे जन्मा यह कारकुन नया था। उसका वर्तन हमे ही उठाकर साफ करना चाहिए था। दूसरे वर्तन तो कस्तूरबाई उठाकर साफ कर देती, लेकिन इन भाई का वर्तन उठाना उसे असह्य मालूम हुआ। इससे हम दोनो मे झगडा मचा। यदि मै उठाता हू तो उसे अच्छा नही मालूम होता था और खुद उसके लिए उठाना कठिन था। फिर भी आखो से मोती की बूदे टपक रही है, एक हाथ मे वर्तन लिये अपनी लाल-लाल आखो से उलहना देती हुई कस्तूरबाई सीढियो से उतर रही है, वह चित्र मै आज भी ज्यो-का-त्यो खीच सकता हू।

परंतु मै जैसा सहृदय और प्रेमी पति था वैसा ही निष्ठुर और कठोर भी था। मै अपनेको उसका शिक्षक मानता था। इससे अपने अधप्रेम के अधीन हो मै उसे खूब सताता था। इस कारण महज उसके वर्तन उठा ले जाने-भर से मुझे सतोष न हुआ। मैने यह भी चाहा कि वह हँसते और हरखते हुए उसे ले जाय। इसलिए

मैने उसे डाटा-डपटा भी। मैने उत्तेजित होकर कहा—"देखो, यह बखेडा मेरे घर मे नही चल सकेगा।"

मेरा यह बोल कस्तूरबाई को तीर की तरह लगा। उसने धधकते दिल से कहा, "तो लो, रखो यह अपना घर! मै चली!"

उस समय मै ईश्वर को भूल गया था। दया का लेशमात्र मेरे हृदय मे न रह गया था। मैने उसका हाथ पकडा। सीढी के सामने ही बाहर जाने का दरवाजा था। मै उस दीन अबला का हाथ पकड कर दरवाजे तक खीचकर ले गया। दरवाजा आधा खोला होगा कि आखो मे गगा-जमुना बहाती हुई कस्तूरबाई बोली, "तुम्हे तो कुछ शरम है नही, पर मुझे है। जरा तो लजाओ। मै बाहर निकल-कर आखिर जाऊ कहा? मा-बाप भी यहा नही कि उनके पास चली जाऊ। मै ठहरी स्त्री-जाति! इसलिए मुझे तुम्हारी धौस सहनी ही पडेगी। अब जरा शरम करो और दरवाजा बद कर लो। कोई देख लेगा तो दोनो की फजीहत होगी।"

मैने अपना चेहरा तो सुर्ख बनाये रखा, पर मन मे शरमा जरूर गया। दरवाजा बद कर दिया। जबकि पत्नी मुझे छोड नही सकती थी तब मै भी उसे छोडकर कहा जा सकता था? इस तरह हमारे आपस मे लडाई-झगडे कई बार हुए है, परतु उनका परि-णाम सदा अच्छा ही निकला है। उनमे पत्नी ने अपनी अद्भुत सहनशीलता के द्वारा मुझपर विजय प्राप्त की।

यह घटना १८९८ की है। उस समय मुझे ब्रह्मचर्य-पालन के विषय मे कुछ ज्ञान न था। वह समय ऐसा था जबकि मुझे इस बात का स्पष्ट ज्ञान न था कि पत्नी तो केवल सहधर्मिणी, सहचारिणी और सुख-दु ख की साथिन है। मै यह समझकर बर्ताव करता था कि पत्नी विषय-भोग की भाजन है, उसका जन्म पति की हर तरह की आज्ञाओ का पालन करने के लिए हुआ है।

किंतु १९०० ई० से मेरे इन विचारो में गहरा परिवर्तन

हुआ। १९०६ मे उसका परिणाम प्रकट हुआ, परतु इसका वर्णन आगे प्रसग आने पर होगा। यहा तो सिर्फ इतना बताना काफी है कि ज्यो-ज्यो मै निर्विकार होता गया त्यो-त्यो मेरा घर-ससार शात, निर्मल और सुखी होता गया।[1]

बा का जबरदस्त गुण महज अपनी इच्छा से मुझमे समा जाने का था। यह कुछ मेरे आग्रह से नही हुआ था। लेकिन समय पाकर बा के अदर ही इस गुण का विकास हो गया था। मै नही जानता था कि बा मे यह गुण छिपा हुआ था। मेरे शुरू-शुरू के अनुभव के अनुसार बा बहुत हठीली थी। मेरे दबाव डालने पर भी वह अपना चाहा ही करती। इसके कारण हमारे बीच थोडे समय की या लबी कडुवाहट भी रहती, लेकिन जैसे-जैसे मेरा सार्वजनिक जीवन उज्ज्वल बनता गया, वैसे-वैसे बा खिलती गई और पुख्ता विचारो के साथ मुझमे यानी मेरे काम मे समाती गई। जैसे दिन बीतते गये, मुझमे और मेरे काम मे—सेवा मे—भेद न रह गया। बा धीमे-धीमे उसमे तदाकार होने लगी। शायद हिंदुस्तान की भूमि को यह गुण अधिक-से-अधिक प्रिय है। कुछ भी हो, मुझे तो बा की उक्त भावना का यह मुख्य कारण मालूम होता है।

बा मे यह गुण पराकाष्ठा को पहुचा, इसका कारण हमारा ब्रह्मचर्य था। मेरी अपेक्षा बा के लिए वह बहुत ज्यादा स्वाभाविक सिद्ध हुआ। शुरू मे बा को इसका कोई ज्ञान भी न था। मैने विचार किया और बा ने उसको उठाकर अपना बना लिया। परिणाम-स्वरूप हमारा सबध सच्चे मित्र का बना। मेरे साथ रहने मे बा के लिए सन् १९०६ से, असल मे सन् १९०१ से, मेरे काम मे शरीक हो जाने के सिवा या उससे भिन्न और कुछ रह ही नही गया था। वह अलग रह नही सकती थी। अलग रहने मे उन्हे कोई दिक्कत न होती, लेकिन उन्होने मित्र बनने पर भी स्त्री के नाते और पत्नी के नाते मेरे काम मे समा जाने मे ही अपना धर्म माना। इसमे बा ने

[1] आत्मकथा, १९२७

मेरी निजी सेवा को अनिवार्य स्थान दिया। इसलिए मरते दम तक उन्होने मेरी सुविधा की देखरेख का काम छोडा ही नही।

अगर मै अपनी पत्नी के बारे मे अपने प्रेम और अपनी भावना का वर्णन कर सकू तो हिंदूधर्म के बारे मे अपने प्रेम और अपनी भावनाओ को मै प्रकट कर सकता हू। दुनिया की दूसरी किसी भी स्त्री के मुकाबिले मे मेरी पत्नी मुझपर ज्यादा असर डालती है।

यद्यपि अपनी मृत्यु के कारण वह सतत वेदना से छूट गई है, इसलिए उनकी दृष्टि मे मैने उनकी मौत का स्वागत किया है, तो भी इस क्षति से मुझको जितना दुख होने की कल्पना मैने की थी उससे अधिक दुख हुआ है। हम असाधारण दपती थे। १९०६ मे एक दूसरे की स्वीकृति से और अनजानी आजमाइश के बाद हमने आत्म-सयम के नियम को निश्चित रूप से स्वीकार किया था। इसके परिणामस्वरूप हमारी गाठ पहले से कही ज्यादा मजबूत बनी और मुझे उससे बहुत आनद हुआ। हम दो भिन्न व्यक्ति नही रह गये। मेरी वैसी कोई अच्छा नही थी, तो भी उन्होने मुझमे लीन होना पसद किया। फलत वह सचमुच ही मेरी अर्धांगिनी बनी। वह हमेशा से बहुत दृढ इच्छा-शक्तिवाली स्त्री थी, जिनको अपनी नवविवाहित दशा मे मै भूल से हठीली माना करता था लेकिन अपनी दृढ इच्छा-शक्ति के कारण वह अनजाने ही अहिंसक असहयोग की कला के आचरण मे मेरी गुरु बन गई। आचरण का आरभ मेरे अपने परिवार से ही किया। १९०६ मे जब मैने इसे राजनीति के क्षेत्र मे दाखिल किया तब उसका अधिक विशाल और विशेष रूप से योजित 'सत्याग्रह' नाम पडा। दक्षिण अफ्रीका मे जब हिंदुस्तानियो की जेल-यात्रा शुरू हुई तब बा भी सत्याग्रहियो मे एक थी। मेरे मुकाबिले शारीरिक पीडा उनको ज्यादा हुई। वह कई बार जेल जा चुकी थी, फिर भी इस बार के इस कैदखाने मे, जिसमे सभी तरह की सहूलियते मौजूद थी, उनको अच्छा नही लगा। दूसरे बहुतो के साथ मेरी और फिर तुरत ही उनकी जो गिरफ्तारी हुई, उससे उन्हे जोर का आघात पहुचा और उनका

मन खट्टा हो गया। वह मेरी गिरफ्तारी के लिए बिल्कुल तैयार नही थी। मैने उन्हे विश्वास दिलाया था कि सरकार को मेरी अहिसा पर भरोसा है और जबतक मै खुद गिरफ्तार होना न चाहू वह मुझे पकडेगी नही। सचमुच उनके ज्ञानततुओ को इतने जोर का धक्का बैठा कि उनकी गिरफ्तारी के बाद उन्हे दस्त की सख्त शिकायत हो गई। अगर उस समय डा० सुशीला नैयर ने, जो उनके साथ ही पकडी गई थी, उनका इलाज न किया होता तो मुझसे इस जेल मे आकर मिलने से पहले ही उनकी देह छूट चुकी होती। मेरी हाजिरी से उन्हे आश्वासन मिला और बिना किसी खास इलाज के दस्त की शिकायत दूर हो गई। लेकिन मन जो खट्टा हुआ था, सो खट्टा ही बना रहा। इसकी वजह से उनके स्वभाव मे चिडचिडापन आ गया और इसीका नतीजा था कि आखिर कष्ट सहते-सहत क्रम-क्रम से उनका देहपात हुआ।[1]

. . .

उनमे एक गुण बहुत बड़ा था। हर एक हिंदू-पत्नी मे वह कमोबेश होता ही है। इच्छा से या अनिच्छा से अथवा जाने-अन-जाने भी वह मेरे पदचिह्नो पर चलने मे धन्यता अनुभव करती थी।

अगरचे मै चाहता था कि उस तीव्र वेदना से उन्हे छुटकारा मिले और जल्दी ही उनकी देह का अत हो जाय तो भी आज उनकी कमी को जितना मैने माना था, उससे कही अधिक मै महसूस कर रहा हू। हम असाधारण दपती थे—अनोखे। हमारा जीवन सतोषी, सुखी और सदा ऊर्ध्वगामी था।[2]

: ६ :

मगनलाल खुशालचंद गांधी

मेरे चाचा के पोते मगनलाल खुशालचद गाधी मेरे कामो

[1] 'हमारी बा', पृ० २२ [2] 'हमारी बा', १८-२-४५

मे मेरे साथ सन् १९०४ से ही थे। मगनलाल के पिता ने अपने सभी पुत्रो को देश के काम मे दे दिया है। वह उस महीने के शुरू मे सेठ जमनालालजी तथा दूसरे मित्रो के साथ बगाल गये थे, वहा से बिहार आये। वही पर अपने कर्त्तव्य के पालन मे ही उन्हे कठिन ज्वर हो आया। नौ दिन की बीमारी के बाद प्रेम और डाक्टरी ज्ञान से जितनी सेवा सभव है, सभी कुछ होने पर भी वह बृज-किशोर प्रसादजी की गोद मे से चले गये।

कुछ धन कमा सकने की आशा से मगनलाल गाधी मेरे साथ सन १९०३ मे दक्षिण अफ्रीका गये थे। मगर उन्हे दूकान करते पूरा साल भर भी न हुआ होगा कि स्वेच्छापूर्वक गरीबी की मेरी अचानक पुकार को सुनकर वह फिनिक्स-आश्रम में जा शामिल हुए और तब से एक बार भी वह डिगे नही, मेरी आशाए पूरी करने मे असमर्थ न हुए। यदि उन्होने स्वदेश-सेवा मे अपनेको होम दिया तो अपनी योग्यताओ और अपने अध्यवसाय के बल पर, जिनके बारे मे कोई सदेह हो ही नही सकता, वे आज व्यापारियो के सिरताज होते। छापाखाने मे डाल दिये जाने पर उन्होने तुरत ही मुद्रण-कला के सभी भेदो को जान लिया। यद्यपि पहले उन्होने कभी कोई यत्र हाथ मे नही लिया था तो भी इजिन-घर मे, कलो के बीच तथा कपोजीटरो के टेबल पर सभी जगह अत्यत कुशलता दिखाई। 'इडियन ओपीनियन' के गुजराती अश का सपादन करना भी उनके लिए वैसा ही सहज काम था। फिनिक्स-आश्रम मे खेती का काम भी शामिल था और इसलिए वह कुशल किसान भी बन गये। मेरा खयाल है कि आश्रम मे वे सर्वोत्तम बागवान थे। यह भी उल्लेखनीय है कि अहमदाबाद से 'यग इडिया' का जो पहला अक निकला उसमे भी उन सकट-काल मे उनके हाथ की कारीगरी थी।

पहले उनका शरीर भीम जैसा था, किन्तु जिस काम मे उन्होने अपने को उत्सर्ग किया, उसकी उन्नति मे उस शरीर को गला दिया था। उन्होने बडी सावधानी से मेरे आध्यात्मिक जीवन का अध्ययन

किया था। जबकि मैंने विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिए भी 'ब्रह्मचर्य ही जीवन का नियम है' का सिद्धांत अपने सहकारियों के सामने पेश किया था तब उन्होंने पहले-पहल उसका सौंदर्य तथा उसके पालन की आवश्यकता समझी और यद्यपि उसके लिए, जैसाकि मैं जानता हूं, उन्हें बड़ा कठोर प्रयत्न करना पड़ा था तो भी उन्होंने इसे सफल कर दिखलाया। इसमें वह अपने साथ अपनी धर्मपत्नी को भी धीरतापूर्वक समझा-बुझाकर ले गये, उसपर अपने विचार जबरन डालकर नहीं।

जब सत्याग्रह का जन्म हुआ तब वह सबसे आगे थे। दक्षिण अफ्रीका के युद्ध का पूरा-पूरा मतलब समझानेवाला एक शब्द मैं ढूंढ रहा था। दूसरा कोई अच्छा शब्द न मिल सकने से मैंने लाचार उसे निष्क्रिय प्रतिरोध का नाम दिया था, गोकि यह शब्द बहुत ही नाकाफी और भ्रमोत्पादक भी है। क्या ही अच्छा होता अगर आज मेरे पास उनका वह अत्यंत सुंदर पत्र होता जिसमें उन्होंने बतलाया था कि इस युद्ध को 'सदाग्रह' क्यों कहना चाहिए। इसी सदाग्रह को बदलकर मैंने 'सत्याग्रह' शब्द बनाया। उनका पत्र पढ़ने पर इस युद्ध के सभी सिद्धांतों पर एक-एक करके विचार करते हुए अंत में पाठक को इसी नाम पर आना ही पड़ता था। मुझे याद है कि वह पत्र अत्यंत ही छोटा और केवल आवश्यक विषय पर ही था, जैसे कि उनके सभी पत्र होते थे।

युद्ध के समय वह काम से कभी थके नहीं, किसी काम से देह नहीं चुराई और अपनी वीरता से वह अपने आसपास में सभी किसीके दिल उत्साह और आशा से भर देते थे। जबकि सब कोई जेल गये, जब फिनिक्स में जेल जाना ही मानो इनाम जीतना था तब भी, मेरी आज्ञा से, जेल से भारी काम उठाने के लिए वह पीछे ठहर गये। उन्होंने स्त्रियों के दल में अपनी पत्नी को भेजा।

हिंदुस्तान लौटने पर भी उन्हींकी बदौलत आश्रम, जिस संयम-नियम की बुनियाद पर बना है, खुल सका था। यहां उन्हें नया और अधिक मुश्किल काम करना पड़ा। मगर उन्होंने अपने-

को उसके लायक साबित किया। उनके लिए अस्पृश्यता बहुत कठिन परीक्षा थी। सिर्फ एक क्षण के लिए ऐसा जान पड़ा, मानो उनका दिल डोल गया हो। मगर यह तो एक सैकड की बात थी। उन्होने देख लिया कि प्रेम की सीमा नही बाधी जा सकती, और कुछ नही तो महज इसीलिए कि अछूतो के लिए ऊची जाति-वाले जिम्मेदार है, हमे उन्हीके जैसे रहना चाहिए।

आश्रम का औद्योगिक विभाग फिनिक्स के ही कारखाने के ढग का नही था। यहा हमे बुनना, कातना, धुनना और ओटना सीखना था। फिर मगनलाल की ओर झुका। योजना मेरी थी, किंतु उसे काम मे लानेवाले हाथ तो उनके थे। उन्होने बुनना और कपास के खादी बनने तक की और दूसरी सभी क्रियाए सीखी। वह तो जन्म से ही विश्वकर्मा, कुशल कारीगर थे।

जब आश्रम मे गोशाला का काम शुरू हुआ तब वह उस काम मे उत्साह से लग गये, गोशाला-सबधी साहित्य पढा और आश्रम की सभी गायो का नामकरण किया और सभी गोरुओ से मित्रता पैदा कर ली।

जब चर्मालय खुला तब भी वह वैसे ही डटे थे। जरा दम लेने की फुर्सत मिलते ही वह चमडे के सिद्धान्त भी सीखनेवाले थे। राजकोट के हाई स्कूल की शिक्षा के अलावा और जो कुछ वह इतनी अच्छी तरह जानते थे, उन्होने वह सब स्वानुभव की कठिन पाठ-शाला मे सीखा था। उन्होने देहाती बढई, देहाती बुनकर, किसान, चरवाहो और ऐसे ही मामूली लोगो से सीखा था।

वह चर्खा-सघ के शिक्षण-विभाग के व्यवस्थापक थे। श्री वल्लभ भाई ने बाढ के जमाने मे उन्हे विट्ठलपुर का नया गाव बसाने का भार दिया था।

वह आदर्श पिता थे। उन्होने अपने बच्चो को दो लडकियो और एक लडके को, ऐसी शिक्षा दी थी कि जिससे वे देश के लिए उपहार बनने के लिए योग्य हो। उनका पुत्र केशव यत्र-विद्या मे बडी कुशलता दिखला रहा है। उसने भी अपने पिता

के ही समान यह सब मामूली लुहार-बढइयो को काम करते देखकर सीखा है। उनकी सबसे बडी लडकी राधा ने अपने मत्थे विहार मे स्त्रियो की स्वाधीनता के सबध मे एक मुश्किल और नाजुक काम उठाया था। सच ही तो, वह यह पूरा-पूरा जानते थे कि राष्ट्रीय शिक्षा कैसी होनी चाहिए और वह शिक्षको को प्राय इस विषय पर गभीर और विचारपूर्वक चर्चा मे लगाया करते थे।

पाठक यह न समझे कि उन्हे राजनीति का कुछ ज्ञान ही नही था। उन्हे ज्ञान जरूर था, किंतु उन्होने आत्मत्याग का रचनात्मक और शात पथ चुना था।

वह मेरे हाथ थे, मेरे पैर थे और थे मेरी आखे। दुनिया को क्या पता कि मै जो इतना बड़ा आदमी कहा जाता हूं, वह बडप्पन मेरे शात, श्रद्धालु, योग्य और पवित्र स्त्री तथा पुरुष कार्यकर्त्ताओं के अविरल परिश्रम और सेवा पर कितना निर्भर है, और उन सबमे मेरे लिए मगनलाल सबसे बडे, सबसे अच्छे और सबसे अधिक पवित्र थे।

यह लेख लिखते हुए भी अपने प्यारे पति के लिए विलाप करती हुई उनकी विधवा की सिसक मै सुन रहा हू। मगर वह क्या समझेगी कि उससे अधिक विधवा, अनाथ मै ही हो गया हू। अगर ईश्वर मे मेरा जीवत विश्वास न होता तो उसकी मृत्यु पर, जोकि मुझे अपने सगे पुत्रो से भी अधिक प्रिय था, जिसने मुझे कभी धोखा न दिया, मेरी आशाए न तोडी, जो अध्यवसाय की मूर्त्ति था, जो आश्रम के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी अगो का सच्चा चौकीदार था, मै विक्षिप्त हो जाता। उनका जीवन मेरे लिए उत्साहदायक है, नैतिक नियम की अमोघता और उच्चता का प्रत्यक्ष प्रदर्शन है। उन्होने अपने ही जीवन मे मुझे एक-दो दिनो मे नही, कुछ महीनो मे नही, बल्कि पूरे चौबीस वर्षों तक की बड़ी अवधि मे—हाय, जोअब घडी भर का समय जान पडता है—यह साबित कर दिखलाया कि देश-सेवा और मनुष्य-सेवा, आत्म-ज्ञान या ब्रह्मज्ञान आदि सभी शब्द एक ही अर्थ के द्योतक है।

मगनलाल न रहे, मगर अपने सभी कामो में वह जीवित है, जिनकी छाप, आश्रम की धूल मे से दौडकर निकल जानेवाले भी, देख सकते है ।[1]

उनके जैसा सरदार अगर मुझे मिला होता तो उन्होने जितनी मेरी सेवा की थी, उतनी मै अपने सरदार की नही कर सकता। उनका जीवन सपूर्ण था। आश्रम के वह प्राण थे। मै तो केवल घूमता फिरा और आश्रम के प्रति बेवफा रहा। उन्होने आश्रम की सेवा मे अपना शरीर गला दिया था। मै मीराबाई के समान जहर का प्याला पी सकता हू, मेरे गले मे कोई सापो की माला डाल दे तो उसे सहन कर सकता हू, किन्तु यह वियोग उन दोनो से भी अधिक कठिन है। तो भी छाती कठिन करके, उनका गुण-कीर्तन करते हुए मैने अपने हृदय मे उनकी मूर्त्ति स्थापित की है।[2]

रुखी बहन[3] बिल्कुल बच्ची थी, तब से सतोक[4] के जीते-जी भी मगनलाल के हाथो पली थी। उनके जीने की शायद ही आशा थी। मुश्किल से सास ले सकती थी। उस लडकी को मगन-लाल नहलाते, बाल सवारते और पास बैठाकर खिलाते थे और अपने दूसरे बच्चो की भी देखभाल करते थे। फिर भी नौकरी मे सबसे ज्यादा काम करते थे। सुदर-से-सुदर बाडी उन्होने बनाई थी। फिनिक्स मे पहला गुलाब का फूल उन्होने उगाया था। फिनिक्स की कितनी ही सख्त जमीन मे जब उनकी कुदाली की चोट पडती थी तब धरती कापती मालूम होती थी।

मगनलाल मे आत्म-विश्वास था। अपने काम के बारे में श्रद्धा थी। और भगवान् ने उन्हे बलवान शरीर दिया था। वह

---

[1] हिंदी नव जीवन, २६-४-२८

[2] हिंदी नव जीवन ३-५-२८

[3] [4] मगनलाल गाधी की पुत्रिया

शरीर अत मे आश्रम के बोझ से और उनकी तपश्चर्या से कमजोर हो गया था ।[1]

उन्होने आश्रम के लिए जन्म लिया था । सोना जैसे अग्नि में तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्नि मे तपे और कसौटी पर सौ फी-सदी खरे उतरकर दुनिया से कूच कर गये । आश्रम मे जो कोई भी है वह मगनलाल की सेवा की गवाही देता है ।[2]

: ७ :

गोपालकृष्ण गोखले

गुरु के विषय मे शिष्य क्या लिखे । उसका लिखना एक प्रकार की धृष्टता मात्र है । सच्चा शिष्य वही है जो गुरु मे अपने-को लीन कर दे, अर्थात् वह टीकाकार हो ही नही सकता । जो भक्ति दोष देखती हो वह सच्ची भक्ति नही और दोष गुण के पृथक्करण मे असमर्थ लेखक द्वारा की गई गुरु-स्तुति को यदि सर्वसाधारण अगीकार न करे तो इसपर उसे नाराज होने का अधिकार नही हो सकता । शिष्य के आचरणो ही से गुरु की टीका होती है । गोखले राजनैतिक विषयो मे मेरे गुरु थे, इस बात को मै अनेक बार कह चुका हू । इस कारण उनके विषय मे कुछ लिखने मे मै अपनेको असमर्थ समझता हू । मै चाहे जितना लिख जाऊ, मुझे थोडा ही मालूम होगा । मेरे विचार से गुरु-शिष्य का सबध शुद्ध आध्यात्मिक सबध है । वह अकशास्त्र के नियमानुसार नही होता । कभी-कभी वह हमारे बिना जाने भी हो जाता है । उसके होने मे एक क्षण से अधिक नही लगता, पर एक बार होकर वह फिर टूटना जानता ही नही ।

---

[1] महादेव भाई की डायरी, भाग १, ८-७-३२

[2] 'यरवडा-मदिर मे' ३०-५-३२

१८९६ ई० मे पहले-पहल हम दोनो व्यक्तियो मे यह सबंध हुआ । उस समय न मुझे उनका खयाल था और न उन्हे मेरा । उसी समय मुझे गुरुजी के भी गुरु लोकमान्य तिलक, सर फिरोजशाह मेहता, जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी, डा० भाडारकर तथा बगाल और मद्रास प्रात के और भी अनेक नेताओ के दर्शनो का सौभाग्य प्राप्त हुआ । मै उस समय बिल्कुल नवयुवक था, मुझपर सबने प्रेम-वृष्टि की । सबके एकत्र दर्शन का वह प्रसग मुझे कभी न भूलेगा, परतु गोखले से मिलकर मेरा हृदय जितना शीतल हुआ उतना औरो से मिलने से नही हुआ । मुझे याद नही आता कि गोखले ने मुझपर औरो की अपेक्षा अधिक प्रेम-वृष्टि की थी । तुलना करने मे मै कह सकता हू कि डा० भाडारकर ने मुझपर जितना अनुराग प्रकट किया उतना और किसीने नही किया । उन्होने कहा—"यद्यपि मै आजकल सार्वजनिक कार्यों से अलग रहता हू, फिर भी केवल तुम्हारी खातिर मै उस सभा का अध्यक्ष बनना स्वीकार करता हू, जो तुम्हारे प्रश्न पर विचार करने के लिए होनेवाली है ।" यह सब होते हुए भी केवल गोखले ही ने मुझे अपने प्रेम-पाश मे आबद्ध किया । उस समय मुझे इस बात का बिलकुल ज्ञान नही हुआ । पर सन् १९०२ वाली कलकत्ते की काग्रेस में मुझे अपने शिष्य-भाव का पूरा-पूरा अनुभव हुआ । उपर्युक्त नेताओ में से अनेक के दर्शनो का उस समय मुझे फिर सौभाग्य प्राप्त हुआ । किन्तु मैने देखा कि गोखले को मेरी याद बनी हुई थी । देखते ही उन्होने मेरा हाथ पकड लिया । वह मुझे अपने घर खीच ले गये । मुझे भय था कि विषय-निर्वाचिनी-समिति मे मेरी बात न सुनी जायगी । प्रस्तावो की चर्चा शुरू हुई और खतम भी हो गई, पर मुझे अब तक यह कहने का साहस न हुआ कि मेरे मन मे भी दक्षिण अफ्रीका-सबधी एक प्रश्न है । मेरे लिए रात को कौन बैठा रहता ? नेतागण काम को जल्दी निपटाने के लिए आतुर हो गये । उनके उठ जाने के डर से मै कापने लगा । मुझे गोखले को याद दिलाने का भी साहस न हुआ ।

इतने में वह स्वय ही वोले—मि० गाधी भी दक्षिण अफ्रीका के हिंदुस्तानियो की दगा के सवध मे एक प्रस्ताव करना चाहते है। उसपर अवश्य विचार किया जाय। मेरे आनंद की सीमा न रही। राष्ट्रसभा के सवध मे मेरा यह पहला ही अनुभव था। इसलिए उससे स्वीकृत होनेवाले प्रस्तावो का मै वडा महत्त्व समझता था। इसके वाद भी उनके दर्शन के कितने ही अवसर उपस्थित हुए और वे सभी पवित्र है। पर इस समय जिस वात को मै उनका महामत्र मानता हू, उसका उल्लेख कर, इसे पूर्ण करना उत्तम होगा।

इस कठिन कलिकाल मे किसी विरले ही मनुष्य मे शुद्ध धर्मभाव देख पडता है। ऋषि, मुनि, साधु आदि नाम धारण कर भटकते फिरनेवालो को इस भाव की प्राप्ति शायद ही कभी होती है। आजकल उनका धर्म-रक्षक पद से च्युत हो जाना सभी लोग देख रहे है। यदि एक ही सुदर वाक्य मे धर्म की पूरी व्याख्या कही है तो वह भक्त-शिरोमणि गुजराती कवि नरसिह मेहता के इस वाक्य मे है

"ज्या लगी आतमा तत्व चीन्यो नहीं,
त्या लागी सावना सर्व जूठी।"

अर्थात्—"जवतक आत्मतत्व की पहचान न हो तवतक सभी साधनाए निरर्थक है।" यह वचन उसके अनुभव-सागर के मथन से निकला हुआ रत्न है। इससे ज्ञात होता है कि महा-तपस्वी तथा योगीजनो मे भी (सच्चा) धर्मभाव होना अनि-वार्य नही है। गोखले को आत्मतत्व का उत्तम ज्ञान था, इसमें मुझे तनिक भी सदेह नही। यद्यपि वह सदा ही धार्मिक आडवरसे दूर रहे, फिर भी उनका सपूर्ण जीवन धर्ममय था। भिन्न-भिन्न युगो मे मोक्ष-मार्ग पर लगानेवाली प्रवृत्तिया देखी गई है। जव-जव धर्मवधन ढीला पडता है तव-तव कोई एक विशेष प्रवृत्ति धर्म-जागृति मे विशेष उपयोगी होती है। यह विशेष प्रवृत्ति उस समय की परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की होती

है। आजकल हम अपनेको राजनैतिक विषयों में अवनत देखते हैं। एकांगी दृष्टि से विचार करने से जान पड़ेगा कि राजनैतिक सुधार से ही अन्य बातों में हम उन्नति कर सकेंगे। यह बात एक प्रकार से सच भी है। राजनैतिक अवस्था के सुधार के बिना उन्नति होना संभव नहीं। पर राजनैतिक स्थिति में परिवर्तन होने ही से उन्नति न होगी। परिवर्तन के साधन यदि दूषित व घृणित हुए तो उन्नति के बदले और अवनति ही होने की अधिकतर संभावना है। जो परिवर्तन शुद्ध और पवित्र साधनों से किया जाता है वही हमें उच्च मार्ग पर ले जा सकता है। सार्वजनिक कामों में पड़ते ही गोखले को इस तत्व का ज्ञान हो गया था और इसको उन्होंने कार्य में भी परिणत किया। यह बात सभी लोग जानते थे कि यह भव्य विचार उन्होंने अपनी भारत-सेवक-समिति तथा संपूर्ण जन-समुदाय के सम्मुख रखा कि यदि राजनीति को धार्मिक स्वरूप दिया जायगा तो यही मोक्ष-मार्ग पर ले जानेवाली हो जायगी। उन्होंने साफ कह दिया कि जबतक हमारे राजनैतिक कार्यों को धर्मभाव की सहायता न मिलेगी तबतक वे सूखे, रस-हीन, ही बने रहेंगे। उनकी मृत्यु पर 'टाइम्स आव इंडिया' में जो लेख प्रकाशित हुआ था उसके लेखक ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया था और राजनैतिक सन्यासी उत्पन्न करने के उनके प्रयत्न की सफलता पर अविश्वास प्रकट करते हुए, उनकी धारणा 'भारत-सेवक-समिति' का ध्यान उसकी ओर आकर्षित किया था। वर्तमान काल में राजनैतिक सन्यासी ही सन्यासाश्रम की गौरववृद्धि कर सकते हैं। अन्य गेरुवा वस्त्रधारी सन्यासी इसकी अपकीर्ति के ही कारण हैं। शुद्ध धर्म-मार्ग में चलनेवाले किसी भारतवासी का राजनैतिक कामों से परे रहना कठिन है। इसी बात को मैं दूसरी तरह अंगीकार किये बिना रह ही नहीं सकता। और आजकल की राज्य-व्यवस्था के जाल में हम इस तरह फँस गये हैं कि राजनीति से अलग रहते हुए, लोक-सेवा करना सर्वथा असंभव ही है। पूर्व समय में जो किसान इस बात को जाने बिना

भी कि जिस देश मे हम वसते है, उसका अधिकारी कौन है, अपनी जीवन-यात्रा भलीभाति निर्वाह कर लेता था, वह आज ऐसा नही कर सकता। ऐसी दशा मे उसका धर्माचरण राजनैतिक परिस्थिति के अनुसार ही होना चाहिए । यदि हमारे साधु, ऋपि, मुनि, मौलवी और पादरी इस उच्च तत्व को स्वीकार कर ले तो जहा देखिये वही भारत-सेवक-समितिया ही दिखाई देने लगे और भारत मे धर्मभाव इतना व्यापक हो जाय कि जो राजनैतिक चर्चा आज लोगो को अरुचिकर होती है वही उन्हे पवित्र और प्रिय मालूम होने लगे, फिर पहले ही की तरह भारत-वासी धार्मिक साम्राज्य का उपभोग करने लगे। भारत का वघन एक क्षण मे दूर हो जाय और वह स्थिति प्रत्यक्ष आखो के सामने आ जाय, जिसका दर्शन एक प्राचीन कवि ने अपनी अमरवाणी मे इस प्रकार किया है—फौलाद से तलवार वनाने का नही, वल्कि (हल की) फाल वनाने का काम लिया जायगा और सिह और वकरे साथ-साथ विचरण करेगे। ऐसी स्थिति उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्ति ही गुरुवर गोखले का जीवन-मत्र थी। यही उनका सदेश है और मुझे विश्वास है कि शुद्ध और सरल मन से विचार करने पर उनके भाषणो[1] के प्रत्येक शब्द मे यह मत्र लक्षित होगा।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

श्री कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया था, वही उपदेश भारत-माता ने महात्मा गोखले को दिया था और उनके आचरणो से सूचित होता है कि उन्होने उसका पालन भी किया है। यह सर्वमान्य वात है कि उन्होने जो-जो किया, जिस-जिस का उपभोग

[1] स्वर्गीय गोखले की पुण्य-तिथि के उपलक्ष में उनके भाषणों तथा लेखों के गुजराती सग्रह की भूमिका।

किया, जो स्वार्थ त्याग किया, जिस तप का आचरण किया, वह सभी कुछ उन्होंने भारत-माता के चरणों में अर्पण कर दिया।

केवल देश ही के लिए जन्म लेनेवाले उस महात्मा का अपने देश-बंधुओं के प्रति क्या संदेश है ? 'भारत-सेवक-समिति' के जो सेवक महात्मा गोखले के अंतिम समय में उनके पास उपस्थित थे, उन्हें उन्होंने निम्नलिखित वाक्य कहे थे

"(तुम लोग) मेरा जीवन-चरित लिखने न बैठना, मेरी मूर्ति बनवाने में भी अपना समय मत लगाना। तुम लोग भारत के सच्चे सेवक होगे तो अपने सिद्धांत के अनुसार आचरण करने अर्थात् भारत की ही सेवा करने में अपनी आयु व्यतीत करोगे।"

सेवा के संबंध में उनके आंतरिक विचार हमें मालूम हैं। राष्ट्रीय सभा का कार्य-संचालन, भाषण तथा लेख द्वारा जनता को देश की सच्ची स्थिति का ज्ञान कराना, प्रत्येक भारतवासी को साक्षर बनाने का प्रयत्न कराना, ये सब काम सेवा ही हैं। पर किस उद्देश्य और किस प्रणाली से यह सेवा की जाय ? इस प्रश्न का वह जो उत्तर देते वह उनके इस वाक्य से प्रकट होता है। अपनी संस्था ('भारत-सेवक-समिति') की नियमावली बनाते हुए उन्होंने लिखा है, "सेवकों का कर्तव्य भारत के राजनैतिक जीवन को धार्मिक बनाना है।" इसी एक वाक्य में सब-कुछ भरा हुआ है। उनका जीवन धार्मिक था। मेरा विवेक इस बात का साक्षी है कि उन्होंने जो-जो काम किये, सब धर्मभाव ही की प्रेरणा से किये। बीस साल पहले उनका कोई-कोई उद्गार या कथन नास्तिकों का-सा होता था। एक बार उन्होंने कहा था— "क्या ही अच्छा होता यदि मुझमें भी वही श्रद्धा होती जो रानडे में थी।" पर उस समय भी उनके कार्यों के मूल में उनकी धर्म-बुद्धि अवश्य रहती थी। जिस पुरुष का आचरण साधुओं के सदृश है, जिसकी वृत्ति निर्मल है, जो सत्य की मूर्ति है, जो नम्र है जिसने सर्वथा अहंकार का परित्याग कर दिया है, वह निस्संदेह

धर्मात्मा है। गोखले इसी कोटि के महात्मा थे। यह वात मैं उनके लगभग २० वर्षो की सगति के अनुभव से कह सकता हू।

१८९६ मे मैंने नेटाल की गर्त्तवदी की मजदूरी पर भारत मे वाद-विवाद आरभ किया। उस समय कलकत्ता, ववई, पूना, मद्रास आदि स्थानो के नेताओ से मेरा पहले-पहल सवध हुआ। उस समय सव लोग जानते थे कि महात्मा गोखले रानडे के शिष्य है। फर्ग्यूसन कालेज को वह अपना जीवन भी अर्पण कर चुके थे, और मैं उस समय एक निरा अनुभवहीन युवक था। मै पहले-पहल पूना मे उनसे मिला। इस पहली ही भेट मे हम लोगो मे जितना घनिष्ठ सवध हो गया उतना और किसी नेता से नही हुआ। महात्मा गोखले के विषय मे जो वाते मैंने सुनी थी वे सव प्रत्यक्ष देखने मे आई। उनकी वह प्रेम-युक्त और हास्यमय मूर्त्ति मुझे कभी न भूलेगी। मुझे उस समय मालूम हुआ कि मानो वह साक्षात् धर्म की ही मूर्ति है। उस समय मुझे रानडे के भी दर्शन हुए थे। पर उनके हृदय मे मै स्थान न पा सका। मै उनके विषय मे केवल इतना ही जान सका कि वह गोखले के गुरु है। अवस्था और अनुभव मे वह मुझसे वहुत अधिक वडे थे, इस कारण अथवा और किसी कारण से मै रानडे को उतना न जान सका, जितना कि गोखले को मैंने जाना।

१८९६ ई० के अवसर से ही गोखले का राजनैतिक जीवन मेरे लिए आदर्श-स्वरूप हुआ। उसी समय से उन्होने राजनैतिक गुरु के नाते मेरे हृदय मे निवास किया। उन्होने सार्वजनिक सभा (पूना) की त्रैमासिक पुस्तक का सपादन किया। उन्होने फर्ग्यूसन-कालेज मे अध्यापन-कार्य करके उसे उन्नत दशा को पहुचाया। उन्होने वेल्वी-कमीशन के सामने गवाही देकर अपनी वास्तविक योग्यता का प्रमाण दिया, उनकी वुद्धिमत्ता की छाप लार्ड कर्जन पर—उन लार्ड कर्जन पर जो अपने सामने किसीको कुछ न गिनते थे—वैठी और वह उनसे शकित रहने लगे।

उन्होने वडे-वडे काम करके मातृभूमि की कीर्ति को उज्ज्वल

किया । पब्लिक-सर्विस-कमीशन का काम करते समय उन्होंने अपने जीने-मरने तक की परवा न की । उनके इन तथा अन्य कार्यों का दूसरे व्यक्तियों ने उत्तम रीति से वर्णन किया है ।

जनरल बोथा तथा स्मट्स से जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका की राजधानी प्रिटोरिया मे मुलाकात की थी उस समय उस मुलाकात के लिए तैयार होने मे उन्होंने जितना परिश्रम किया था वह मैं इस जन्म मे नही भूल सकता । मुलाकात के पहले दिन उन्होंने मेरी और मि० कलेनबेक की परीक्षा ली । वह स्वयं रात के तीन ही बजे जाग पडे और हम लोगो को भी उन्होने जगाया । उन्हे जो पुस्तक दी गई थी उनको उन्होने अच्छी तरह पढ लिया था । अब हम लोगो से जिरह करके वह इस बात का निश्चय करना चाहते थे कि उनकी तैयारी पूरी हुई या अभी उसमें कसर है । मैंने उनसे विनयपूर्वक कहा कि इतना परिश्रम अनावश्यक है । हम लोगो को तो हक मिले या न मिले, लडना ही होगा, पर अपने आराम के लिए मैं आपका बलिदान नही करना चाहता । पर जिस पुरुष ने सर्वदा काम मे लगे रहने की आदत ही बना रखी थी, वह मेरी बातो पर कब ध्यान देता । उनकी जिरहो का मैं क्या वर्णन करूं । उनकी चिताशीलता की कितनी प्रशसा करूं । इतने परिश्रम का फल ही परिणाम होना चाहिए था । मन्त्रि-मडल ने वचन दिया कि आगामी बैठक मे सत्याग्रहियो की आकाक्षाओ को स्वीकार करने वाला कानून पास किया जायगा और मजदूरो को ८५ रुपये जो कर देना पडता है वह माफ कर दिया जायगा ।

पर इस वचन का पालन नही किया गया । तो क्या गोखले निश्चेष्ट हो बैठ रहे ? एक क्षण के लिए भी नही । मेरा विश्वास है कि १९१३ ई० मे उक्त वचन को पूरा कराने के लिए उन्होंने जो अविराम श्रम किया, उससे उनके जीवन के दस वर्ष अवश्य छीजे होगे । उनके डाक्टर की भी यही राय है । इस बार भारत में जागृति उत्पन्न करने और द्रव्य एकत्र करने के लिए उन्होंने जितने

कष्ट सहे, उनका अनुमान कठिन है। यह महात्मा गोखले का ही प्रताप था कि दक्षिण अफ्रीका के प्रश्न पर भारतवर्ष हिल उठा। लार्ड हार्डिंज ने मद्रास मे इतिहास मे यादगार होने योग्य जो भाषण दिया वह भी उन्हींका प्रताप था। उनसे घनिष्ठ परिचय रखनेवालो का कहना है कि दक्षिण अफ्रीका के मामले की चिंता ने उन्हे चारपाई पर डाल दिया, फिर भी अंत तक उन्होने विश्राम करना स्वीकार न किया। दक्षिण अफ्रीका से आधी रात को आनेवाले पत्र-सरीखे लंबे-चौडे तारो को उसी क्षण पढना, जवाब तैयार करना, लार्ड हार्डिंज के नाम पर तार भेजना, समाचार-पत्रो मे प्रकाशित कराये जानेवाले लेख का मसविदा तैयार करना और इन कामो की भीड मे खाने और सोने तक की याद न रहना, रात-दिन एक कर डालना, ऐसी अनन्य निस्स्वार्थ भक्ति वही करेगा जो धर्मात्मा हो।

हिंदू और मुसलमान के प्रश्न को भी वह धार्मिक दृष्टि से ही देखते थे। एक बार अपनेको हिंदू कहनेवाला एक साधु उनके पास आया और कहने लगा कि मुसलमान नीच है और हिंदू उच्च। महात्मा गोखले को अपने जाल मे फसते न देख उसने उन्हे दोष देते हुए कहा कि तुम मे हिंदुत्व का तनिक भी अभिमान नही। महात्मा गोखले ने भवे चढाकर हृदय-भेदी स्वर मे उत्तर दिया—"यदि तुम जैसा कहते हो वैसा करने ही मे हिंदुत्व है तो मैं हिंदू नही। तुम अपना रास्ता पकडो।"

महात्मा गोखले मे निर्भयता का गुण बहुत अधिक था। धर्मनिष्ठा मे इस गुण का स्थान प्राय सर्वोच्च है। लेफ्टिनेंट रैंड की हत्या के पश्चात् पूना मे हलचल मच गई थी। गोखले उस समय इग्लैड मे थे। पूनावालो की तरफ से वहा उन्होने जो व्याख्यान दिये वे सारे जगत मे प्रसिद्ध है। उनमे वह कुछ ऐसी बाते कह गये थे, जिनका पीछे वह सबूत न दे सकते थे। थोडे ही दिनो बाद वह भारत लौटे। अपने भाषणो मे उन्होने अंग्रेज सिपाहियो पर जो इलजाम लगाया था उसके लिए उन्होने माफी माग ली। इस

माफी मागने के कारण यहा के बहुत-से लोग उनसे नाराज भी हो गये। महात्मा को कितने ही लोगों ने सार्वजनिक कामो से अलग हो जाने की सलाह दी। कितने ही नासमझों ने उनपर भीरुता का आरोप करने मे भी आगापीछा न किया। उन सबका उन्होने अत्यन्त गभीर और मधुर भाषा मे यही उत्तर दिया—"देश-सेवा का कार्य मैने किसीकी आज्ञा से अगीकार नही किया है और किसीकी आज्ञा से उसे मै छोड भी नही सकता। अपना कर्त्तव्य करते हुए यदि मै लोकपक्ष के साथ रहने के योग्य समझा जाऊ तो अच्छा ही है, पर यदि मेरे भाग्य वैसे न हो तो भी मै उसे अच्छा ही समझूगा।" काम करना उन्होने अपना धर्म माना था। जहातक मेरा अनुभव है, उन्होने कभी स्वार्थ-दृष्टि से इस बात का विचार नही किया कि मेरे कार्यों का जनता पर क्या प्रभाव पडेगा। मेरा विश्वास है कि उनमे वह शक्ति थी जिससे यदि देश के लिए उन्हे फासी पर चढना होता तो भी वह अविचलित चित्त से हसते हुए फासी पर चढ जाते। मै जानता हू कि अनेक बार उन्हे जिन अवस्थाओ मे रहना पडा है उनमे रहने की अपेक्षा फासी पर चढना कही सहज था। ऐसी विकट परिस्थितियो का उन्हे अनेक बार सामना करना पडा, पर उन्होने कभी पाव पीछे न हटाया।

इनसब बातो से तात्पर्य यह निकलता है कि यदि इस महान् देशभक्त के चरित्र का कोई अश हमारे ग्रहण करने योग्य है तो वह उनका धर्म-भाव ही है। उसीका अनुकरण करना हमे उचित है। हम सब लोग बडी व्यवस्थापिका सभा के सदस्य नही हो सकते। हम यह भी नही देखते कि उसके सदस्य होने से देश-सेवा हो ही जाती है। हम सब लोग पब्लिक-सर्विस-कमीशन मे नही बैठ सकते। यह बात भी नही है कि उसमे के सब बैठनेवाले देशभक्त ही होते है। हम सब लोग उनकी बराबरी के विद्वान् नही हो सकते और विद्वानमात्र के देश-सेवक होने का भी हम अनुभव नही है। परतु निर्भयता, सत्य, धैर्य नम्रता, न्यायशीलता सरलता और

अध्यवसाय आदि गुणो का विकास कर उन्हे देश के लिए अर्पण करना सबके लिए साध्य है, यही धर्मभाव है। राजनैतिक जीवन को धर्ममय करने का यही अर्थ है। उक्त वचन के अनुसार आचरण करनेवाले को अपना पथ सदा ही सूझता रहेगा। महात्मा गोखले की संपत्ति का भी वही उत्तराधिकारी होगा। इस प्रकार की निष्ठा से काम करनेवाले को और भी जिन-जिन विभूतियो की आवश्यकता होगी वे सब प्राप्त होगी। यह ईश्वर का वचन है और महात्मा गोखले इसका ज्वलंत प्रमाण है।[1]

विश्व-बंधुत्व की भावना उन्होने स्वयं अपने जीवन मे चरितार्थ करके दिखा दी. इस बात को उनके साथी खूब अच्छी तरह से जानते है। पारिया (अंत्यज) कहे जानेवाले भाइयो से वह खूब दिल खोलकर मिलते थे। यह बात उनमे नही थी कि वह किसी पर कृपा या अहसान कर रहे है। उनके हृदय मे तो केवल सेवा का ही आदर्श था। उनका विश्वास था कि सार्वजनिक आदमी जनता के नेता नही, बल्कि सेवक है। उनकी दृष्टि मे सबसे बडा सेवक ही सबसे बडा नेता था। वह हर तरह एक सच्चे जन्मना ब्राह्मण थे। वह जन्मजात अध्यापक भी थे। उनसे जब कोई 'प्रोफेसर' कहता तो बडे प्रसन्न होते थे। विनम्रता की तो वह मूर्ति थे। राष्ट्र को उन्होने अपना सर्वस्व दे दिया था। चाहते तो वह मालामाल हो जाते, लेकिन उन्होने तो स्वेच्छा से गरीबी का ही बाना पसंद किया। गोखले ने एक महान अवसर पर लिखा था, "जो सेवा किसी व्यक्ति के कहने से हाथ मे नही ली जाती, वह किसी दूसरे की आज्ञा से त्यागी भी नही जा सकती। इसलिए सबसे निरापद नियम तो यह है कि मनुष्य को हम उसके वर्तमान रूप मे ही ग्रहण करे, फिर चाहे जिस कुल मे वह पैदा हुआ हो और उसकी जाति या उसका रंग चाहे जो हो।"[2]

---

[1] 'महात्मा गांधी' रामचंद्र वर्मा लिखित

[2] हरिजन-सेवक ९-३-३४

८

घोषालबाबू

काग्रेस के अधिवेशन को एक-दो दिन की देर थी। मैंने निश्चय किया था कि काग्रेस के दफ्तर में यदि मेरी सेवा स्वीकार हो तो कुछ सेवा करके अनुभव प्राप्त करू।

जिस दिन हम आये उसी दिन नहा-धोकर मैं काग्रेस के दफ्तर में गया। श्री भूपेंद्रनाथ बसु और श्रीघोषाल मत्री थे। भूपेनबाबू के पास पहुचकर कोई काम मागा। उन्होंने मेरी ओर देखकर कहा, "मेरे पास तो कोई काम नही है, पर शायद मि० घोषाल तुमको कुछ बतावेंगे। उनसे मिलो।"

मैं घोषालबाबू के पास गया। उन्होंने मुझे नीचे से ऊपर तक देखा। कुछ मुस्कराये और बोले, "मेरे पास कारकुन का काम है। करोगे?"

मैंने उत्तर दिया, "जरूर करूगा। अपने बस भर सबकुछ करने के लिए मैं आपके पास आया हू।"

"नवयुवक, सच्चा सेवा-भाव इसीको कहते है।"

कुछ स्वय-सेवक उनके पास खड़े थे। उनकी ओर मुखातिब होकर कहा, "देखते हो, इस नवयुवक ने क्या कहा?"

फिर मेरी ओर देखकर कहा, "तो लो, यह चिट्ठियो का ढेर, और यह मेरे सामने पड़ी है कुरसी। इसे ले लो। देखते हो न, सैकडो आदमी मुझसे मिलने आया करते है। जब मैं उनसे मिलू या जो लोग फालतू चिट्ठिया लिखा करते है उन्हे उत्तर दू? मेरे पास ऐसे कारकुन नही कि जिनसे मैं यह काम करा सकू। इन चिट्ठियो में बहुतेरी तो फिजूल होगी, पर तुम सबको पढ़ जाना। जिनकी पहुच लिखना जरूरी हो उनकी पहुच लिख देना और जिनके उत्तर के लिए मुझसे पूछना हो पूछ लेना।"

उनके इस विश्वास से मुझे बड़ी खुशी हुई।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-ठाम तो मेरा उन्होंने

वाद को जाना। चिट्ठियों के जवाव आदि का काम आसान था। सारे ढेर को मैंने तुरत निपटा दिया। घोषालवावू खुश हुए। उन्हें वात करने की आदत वहुत थी। मैं देखता था कि वह वातों में वहुत समय लगाया करते थे। मेरा इतिहास जानने के वाद तो कारकुन का काम देने में उन्हें जरा शर्म मालूम हुई, पर मैंने उन्हें निश्चित कर दिया।

"कहा मैं और कहा आप! आप काग्रेस के पुराने सेवक, मेरे नजदीक तो आप मेरे वुजुर्ग है। मैं ठहरा अनुभवहीन नवयुवक! यह काम सौंपकर मुझपर तो आपने अहसान ही किया है, क्योकि मुझे आगे चलकर काग्रेस में काम करना है। उसके काम-काज को समझने का अलभ्य अवसर आपने मुझे दिया है।"

"सच पूछो तो यही सच्ची मनोवृत्ति है। परतु आजकल के नवयुवक ऐसा नही मानते। पर मैं तो काग्रेस को उसके जन्म से जानता हू। उसकी स्थापना करने मे मि० ह्यू म के साथ मेरा भी हाथ था।" घोषालवावू वोले।

हम दोनो में खासा सवध हो गया। दोपहर के खाने के समय वह मुझे साथ रखते। घोषालवावू के वटन भी 'वेरा' लगाता। यह देखकर 'वेरा' का काम खुद मैंने लिया। मुझे वह अच्छा लगता। वडे-वूढो की ओर मेरा वडा आदर रहता था। जव वह मेरे मनोभावों से परिचित हो गये तव अपना निजी सेवा का सारा काम मुझे करने देते थे। वटन लगवाते हुए मुह पिचकारकर मुझसे कहते, "देखो न, काग्रेस के सेवक को वटन लगाने तक की फुरसत नही मिलती, क्योकि उस समय भी वे काम में लगे रहते है।" इस भोलेपन पर मुझे मन मे हँसी तो आई, परतु ऐसी सेवा के लिए मन मे अरुचि विल्कुल न हुई। उससे जो लाभ हुआ उसकी कीमत नही आकी जा सकती।[1]

---

[1] आत्मकथा, १९२७

: ९

अमृतलाल वि० ठक्कर

ठक्करबापा आगामी २७ नवबर को ७० वर्ष के हो जायगे। बापा हरिजनो के पिता है और आदि-वासियो और उन सबके भी, जो लगभग हरिजनो की ही कोटि के है और जिनकी गणना अर्द्ध-सभ्य जातियो में की जाती है। दिल्ली के हरिजन-निवास-वासियो की तजवीज इस प्रकार उनकी ७०वी जयती मनाने की है, जिस से ठक्करबापा के दिवस पर, हरिजन-कार्य के निमित्त, उन्हे ७०००) की एक विनम्र थैली भेट करना चाहते है। इसके लिए उन्होने मेरा आशीर्वाद मागा है। यह भी चाहते है कि उनके इस शुभ प्रयत्न को मै प्रकाश मे ला दू। पर मैने तो उन्हे लिखा है कि उनमे आत्म-श्रद्धा की कमी है। ठक्करबापा एक विरल लोकसेवक है। वह विनम्र स्वभाव के है। वह प्रशसा के भूखे नही। उनका जीवन कार्य ही उनका एकमात्र सतोष और विश्राम है। वृद्धावस्था उनके उत्साह को मद नही कर सकी है। वह स्वय एक सस्था है। एक बार जब मैने उनसे कहा कि वह थोडा आराम ले ले तो तुरत उनका जवाब आया, "जब इतना तमाम काम करने को पडा है, तब मै आराम कैसे ले सकता हू? मेरा काम ही मेरा आराम है।" अपने जीवन-कार्य मे वह जिस प्रकार अपनी शक्ति लगा रहे है, उसे देख कर तो उनके आस-पास रहनेवाले नवयुवक भी लज्जित हो जाते है। इतने महान् कार्य के लिए और उस जनसेवक के लिए जो अपने विशाल वृद्ध कधो पर इतना भारी भार वहन कर रहा है, ७०००) की थैली एक प्रकार का अपमान है। कार्यकर्त्ताओं का तो यह लक्ष्य होना चाहिए कि सारे हिंदुस्तान से वे ७०,०००) से कम तो किसी हालत मे इकट्ठे नही करेगे। महान् सेवा-प्रवृत्ति और उसके सेवा-रत पिता को देखते हुए, यह ७०,०००) की रकम भी कोई चीज नही है। लेकिन एक महीने के अदर यह

रकम इकट्ठी करनी है, इस दृष्टि से यह ठीक ही है।[1]

••

भारत-सेवक-समिति को अपने प्राणो की तरह प्रिय समझने-वाले एक मित्र श्री ठक्करवापा-कोष के लिए दस रुपये का चदा भेजते हुए लिखते है—

"श्री ठक्करवापा की प्रशसा मे लिखे गये आपके एक-एक शब्द का मै समर्थन करता हू। इस सवध मे मेरी एक ही सूचना है और वह यह कि वापा के पुण्य कार्यो का सारा श्रेय भारत-सेवक-समिति को महज इसलिए नही मिलना चाहिए कि वापा उसके एक सदस्य है। समिति ने विना किसी हिचकिचाहट के उनको अपना सदस्य माना है और वापा के द्वारा मानव-जाति की जो महान सेवा हुई है, उसपर हमेशा ही गर्व किया है।"

यह शिकायत विल्कुल ठीक है। दरअसल, वात तो यह है कि वापा की कई विशेषताओ का उल्लेख करते,हुए मै उनकी एक खास विशेषता का उल्लेख करना भूल गया हू, इसका मुझे खयाल ही न रहा। वात यह कि भारत-सेवक-समिति की सदस्यता स्वीकार करने से पहले वापा म्युनिसिपल कारपोरेशन, ववई के रोड इजीनियर का काम करते थे। हरिजन-सेवक-सघ को उनकी सेवाए भारत-समिति की ओर से ही वतौर कर्ज के मिली है।[2]

वापा की इकहत्तरवी जयती मनाने मे मुझे हाजिर होना चाहिए। लेकिन मै इस लायक नही रहा हू। मेरी तो हार्दिक आशा है कि वापा सौ वर्ष पूरे करे। वापा का जन्म ही दलितो की सेवा के लिए है, वह भले ही अस्पृश्य हो या भिल्ल या सताल या खासी इत्यादि। उनकी कदर करने मे भी हम दलितो की कुछ-न-कुछ सेवा करते है। वापा की सेवा ने हिंदुस्तान को वढाया है।[3]

---

[1] हरिजन सेवक, २१-१०-३९

[2] हरिजन सेवक, ४-११-३९

[3] हरिजन सेवक, ९-१२-३९

रवींद्रनाथ ठाकुर

लार्ड हार्डिंज ने डाक्टर रवीद्रनाथ ठाकुर को एशिया के महा-कवि की पदवी दी थी, पर अब रवीद्रबाबू न सिर्फ एशिया के बल्कि ससार भर के महाकवि गिने जा रहे है। उनके हाथ से भारतवर्ष की सबसे बडी सेवा यह हुई है कि उन्होंने अपनी कविता द्वारा भारतवर्ष का सदेश ससार को सुनाया है। इसीसे रवीद्रबाबू को सच्चे हृदय से इस बात की चिता है कि भारतवासी भारत-माता के नाम से कोई झूठा या सारहीन सदेशा ससार को न सुनावे। हमारे देश का नाम न डूबने पावे, इस बात की चिता करना रवीद्रबाबू के लिए स्वाभाविक ही है।[1]

शातिनिकेतन मे आगमन मेरे लिए एक तीर्थ-यात्रा के समान था। बहुत दिनो से मेरी इच्छा वहा जाने की थी, लेकिन यह अवसर मलिकदा जाते समय ही मुझे मिल सका। मेरे लिए शातिनिकेतन नया नही है। १९१५ मे जब इसकी रूपरेखा बन रही थी तब मै वही था। इसका मतलब यह नही कि अब उसका निर्माण-क्रम रुक गया है। गुरुदेव खुद विकसित हो रहे है। वृद्धा-वस्था के कारण उनके मन के लचीलेपन मे कोई अतर नही पडा है। इसलिए जबतक गुरुदेव की भावना की छाया उनके ऊपर है तबतक शातिनिकेतन की वृद्धि रुक नही सकती। वहा प्रत्येक मनुष्य की उनके प्रति जो श्रद्धा है वह ऊपर उठानेवाली है, क्योकि वह सहज है। मुझे तो इसने अवश्य ही ऊचा उठाया। इनके छात्रो और अध्यापको ने उनको 'गुरुदेव' की जो उपाधि दे रखी है उससे शातिनिकेतन मे उनकी स्थिति ठीक-ठीक व्यक्त होती है। यह स्थिति उनकी इसलिए है कि वह उस

---

[1] यग इडिया, १-६-२१

स्थान और वहा के समूह मे निमग्न हो गये है, अपनेको भूल गये है। मैने देखा कि वह अपनी प्रियतम कृति 'विश्व भारती' के लिए जी रहे है। वह चाहते है कि यह फूले-फले और अपने भविष्य के विषय मे निश्चित हो जाय। इसके बारे मे उन्होने मुझसे देर तक बातचीत की। लेकिन इतना भी उनके लिए काफी नही था, इसलिए जब हम विदा हो रहे थे तब उन्होने मुझे नीचे लिखा बहुमूल्य पत्र दिया

प्रिय महात्माजी,

आपने आज सुबह ही हमारे कार्य के 'विश्व-भारती'-केंद्र का विहगावलोकन किया है। मै नही जानता कि आपने इसकी मर्यादा का क्या अदाज लगाया है। आप जानते है कि यद्यपि अपने वर्तमान रूप मे यह सस्था राष्ट्रीय है, तथापि अत भावना की दृष्टि से यह एक सार्वदेशिक—अतर्राष्ट्रीय—सस्था है और अपने साधनो के अनुसार भरसक शेष जगत को भारत की सस्कृति का आतिथ्य प्रदान करती है।

एक बडे गाढे अवसर पर आपने बिल्कुल टूटने से इसे बचाया और अपने पाव पर खडे होने मे इसकी सहायता की। आपके इस मित्रतापूर्ण कार्य के लिए हम आपके निकट सदा आभारी है।

और अब शातिनिकेतन से आपके विदा होने के पहले मै आपसे जोरदार अपील करता हू कि यदि आप इसे एक राष्ट्रीय सपत्ति समझते है तो इस सस्था को अपने सरक्षण मे लेकर इसे स्थायित्व प्रदान करे। 'विश्व-भारती' उस नौका के समान है, जो मेरे जीवन के सर्वोत्तम रत्नो से भरी हुई है और मुझे आशा है कि अपनी रक्षा के लिए अपने देशवासियो से यह विशेष देख-रेख पाने का दावा कर सकती है। प्रेमपूर्वक—

रवीद्रनाथ ठाकुर

इस सस्था को अपने सरक्षण मे लेनेवाला मैं कौन होता हू ? चूकि यह एक ईमानदार आत्मा की कृति है, इसलिए ईश्वर का सरक्षण इसके साथ है। वह कोई दिखावे की चीज नही है। गुरुदेव

स्वय सार्वदेशिक—अन्तर्राष्ट्रीय—है, क्योकि वह सच्चे रूप मे राष्ट्रीय है। इसलिए उनकी सपूर्ण कृतिया सार्वदेशिक है और 'विश्व-भारती' उन सबमे श्रेष्ठ है। मुझे इसमे किसी तरह का सदेह नही कि जहातक आर्थिक बोझ का सबध है इसके भविष्य के बारे मे गुरुदेव को सपूर्ण चिंता से मुक्त कर देना चाहिए। उनकी हृदयग्राही अपील के जवाब मे जो कुछ सहायता करने लायक मै हू, करने का मैने उनको वचन दिया है।[1]

मै यहा आप लोगो के लिए कोई अतिथि या मेहमान बनकर नही आया हू। शातिनिकेतन तो मेरे लिए घर से भी अधिक है। जब १९१४ मे मै इग्लैण्ड से लौटनेवाला था तब यही तो मेरे दक्षिण अफ्रीकावाले कुटुब का प्रेमपूर्वक आतिथ्य हुआ था और यहा मुझे भी करीब एक महीने तक आश्रय मिला था। जब मै आप सब लोगो को अपने सामने एकत्र देखता हू तो उन दिनो की याद मेरे हृदय पर छा जाती है। मै कितना चाहता हू कि यहा ज्यादा दिन ठहरू, पर अफसोस कि यह सभव नही। यहा कर्तव्य का प्रश्न है। उस दिन एक मित्र को एक पत्र मे मैने लिखा था कि शातिनिकेतन और मल्किदा की यह यात्रा मेरे लिए तीर्थ-यात्रा है। सचमुच इस बार शातिनिकेतन मेरे लिए 'शाति का निकेतन' सिद्ध हुआ। मै यहा राजनीति की सब चिता और झझट छोडकर मात्र गुरुदेव के दर्शन और आशीर्वाद लेने आया हू। मैने अक्सर एक कुशल भिक्षुक होने का दावा किया है। लेकिन आज गुरुदेव का मुझे जो आशीर्वाद मिला है उससे बढकर दान मेरी झोली मे कभी किसीने नही डाला है। मै जानता हू कि उनका आशीर्वाद तो मुझे हमेशा ही है। मगर आज मेरा खास सौभाग्य है कि उन्हीके हाथो स्वय मुझे आशीर्वाद मिला और इस कारण मेरे हर्ष का पार नही।[2]

---

[1] हरिजन सेवक, २-३-४०

[2] हरिजन सेवक, ३०-३-४०

डा० रवीद्रनाथ टैगोर के निधन मे हमने न केवल अपने युग के सबसे बडे कवि को ही, बल्कि एक उत्कट राष्ट्रवादी को, जो कि मानवता का पुजारी भी था, खो दिया है। शायद ही कोई ऐसी सार्वजनिक प्रवृत्ति होगी, जिसपर उनके शक्तिशाली व्यक्तित्व की छाप न पडी हो। शातिनिकेतन और श्रीनिकेतन के रूप मे उन्होने समस्त राष्ट्र के लिए ही नही, अपितु समस्त ससार के लिए विरासत छोडी है।[१]

... . .

टैगोर की क्या बात! उन्होने क्या नही साधा? साहित्य का एक भी क्षेत्र उन्होनें छोडा है? और सबमे कमाल! ऐसी अलौकिक शक्तिवाला आदमी हमारे यहा तो है ही नही, लेकिन दुनिया मे भी होगा या नही, इसमे मुझे शक है।[२]

...

गुरुदेव की देह खाक मे मिल चुकी है, लेकिन उनके अदर जो जोत थी, जो उजेला था, वह तो सूरज की तरह था, जो तबतक बना रहेगा जबतक धरती पर जानदार रहेगे। गुरुदेव ने जो रोशनी फैलाई वह आत्मा के लिए थी। सूरज की रोशनी जैसे हमारे शरीर को फायदा पहुचाती है, वैसे गुरुदेव की फैलाई रोशनी ने हमारी आत्मा को ऊपर उठाया है। वह एक कवि थे और प्रथम श्रेणी के साहित्यिक थे। उन्होने अपनी मातृभाषा मे लिखा और सारा बगाल उनकी कविता के झरने से काव्य-रस का गहरा पान कर सका। उनकी रचनाओ के अनुवाद बहुत-सी भाषाओ मे हो चुके है। वह अग्रेजी के भी बहुत बडे लेखक थे और शायद बिना अग्रेजी जाने ही वह उस जबान के इतने बडे लेखक बन गये थे। मदरसे की पढाई तो उन्होने की थी, लेकिन यूनिवर्सिटी की कोई

---

१ हरिजन सेवक, ७-८-४१

२ 'महादेवभाई की डायरी'

डिग्री उन्होंने नही ली थी। वह तो बस गुरुदेव ही थे। हमारे एक वाइसराय ने उनको 'एशिया का कवि' कहा था। उनसे पहले किसी को ऐसी पदवी नही मिली थी। वह समूची दुनिया के भी कवि थे। यही क्यो, वह तो ऋषि थे। हमारे लिए वह अपनी 'गीतांजलि' छोड़ गये है, जिसने उनको सारी दुनिया मे मशहूर कर दिया। तुलसीदासजी हमारे लिए अपनी अमर रामायण छोड़ गये है। वेदव्यासजी ने महाभारत के रूप मे हमारे लिए मानव-जाति का इतिहास छोड़ा है। ये सब निरे कवि नही थे। ये तो गुरु थे। गुरुदेव ने भी सिर्फ कवि के नाते ही नही, ऋषि की हैसियत से भी लिखा है। लेकिन सिर्फ लिखना ही उनकी अकेली खासियत नही थी। वह एक कलाकार थे, नृत्यकार थे और गायक थे। बढ़िया-से-बढ़िया कला मे जो मिठास और पवित्रता होनी चाहिए, वह सब उनमे और उनकी चीजो मे थी। नई-नई चीज पैदा करने की उनकी ताकत ने हमको शांतिनिकेतन, श्रीनिकेतन और विश्व-भारती जैसी संस्थाए दी है। अपनी इन संस्थाओ मे वह भावरूप से विराजमान है, और ये अकेले बंगाल को ही नही, बल्कि समूचे हिंदुस्तान को उनकी विरासत के रूप मे मिली है। शांतिनिकेतन तो हम सबके लिए असल मे यात्रा का एक धाम ही बन गया है। गुरुदेव अपने जीतेजी इन संस्थाओ को वह रूप नही दे पाये, जो वह देना चाहते थे, जिसका वह सपना देखते थे। कौन है, जो ऐसा कर पाया हो? आदमी के मनोरथ को पूरा करना तो भगवान के हाथ मे है। फिर भी ये संस्थाए हमे उनकी कोशिशो की याद दिलायेगी और हमेशा हमको यह बताती रहेगी कि गुरुदेव के मन मे अपने देश के लिए कितनी गहरी प्रीति थी और उन्होंने उसकी कितनी-कितनी सेवाए की है।'[1]

---

[1] हरिजन सेवक, १९-५-४६

: ११ :

लोकमान्य तिलक

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक अब संसार में नहीं है। यह विश्वास करना कठिन मालूम होता है कि वह संसार से उठ गये। हम लोगो के समय में ऐसा दूसरा कोई नहीं, जिसका जनता पर लोकमान्य के जैसा प्रभाव हो। हजारों देशवासियों की उनपर जो भक्ति और श्रद्धा थी वह अपूर्व थी। यह अक्षरश सत्य है कि वह जनता के आराध्यदेव थे, प्रतिमा थे। उनके वचन हजारों आदमियों के लिए नियम और कानून-से थे। पुरुषों में पुरुष-सिंह संसार से उठ गया! केशरी की घोर गर्जना विलीन हो गई।

देशवासियों पर उनका इतना प्रभाव होने का क्या कारण था? मैं समझता हूं, इस प्रश्न का उत्तर बड़ा ही सहज है। उनकी स्वदेश-भक्ति ही उनकी इंद्रियवृत्ति थी। वह स्वदेश-प्रेम के सिवा दूसरा धर्म नहीं जानते थे।

जन्म से ही वह प्रजासत्तावादी थे। बहुमत की आज्ञा पर इतना अधिक विश्वास करते थे कि मुझे उससे भयभीत होना पड़ता था। पर यही वह बात है जिससे जनता पर उनका इतना अधिक प्रभाव था। स्वदेश के लिए वह जिस इच्छा-शक्ति से काम लेते थे वह बड़ी ही प्रबल थी। उनका जीवन वह ग्रंथ है जिसे खोलने की भी जरूरत नहीं, वह खुला हुआ ग्रंथ है। उनका खाना-पीना और पहनावा बिल्कुल साधारण था। उनका व्यक्तिगत जीवन बड़ा ही निर्मल और बेदाग था। उन्होंने अपनी आश्चर्य-जनक बुद्धि-शक्ति को स्वदेश को अर्पण कर दिया था। जितनी स्थिरता और दृढ़ता के साथ लोकमान्य ने स्वराज्य की शुभ वार्ता का उपदेश किया उतना और किसीने नहीं किया। इसी कारण स्वदेशवासी उनपर अटूट विश्वास रखते थे। साहस ने कभी उनका साथ नहीं छोड़ा। उनकी आशावादिता अदम्य थी। उनको आशा थी कि जीवनकाल में ही मैं संपूर्ण रूप से स्वराज्य स्थापित हुआ देख

सकूगा। यदि वह उसे नही दे न सके तो उनका दोष नही है। उन्होने निस्सदेह स्वराज्य-प्राप्ति की अवधि बहुत कम कर दी है।

मै अग्रेजो को ऐसी धारणा बनाने से मना करता हू कि लोकमान्य अग्रेजो के शत्रु थे, या अधिकारी वर्ग या अग्रेजी राज्य से घृणा करते थे।

कलकत्ता-काग्रेस के समय हिंदी के राष्ट्र-भाषा होने के सबध मे उन्होने जो कहा था, उसे सुनने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ था। वह काग्रेस-पडाल से तुरत ही लौटे थे। हिंदी के सबध मे उन्होने अपने शात भाषण मे जो कहा उससे बडी तृप्ति हुई। भाषण में उन्होने देशी भाषाओ पर खयाल रखने के कारण अंग्रेजो की बडी प्रशसा की थी। विलायत जाने पर, यद्यपि उन्हे अग्रेज जूरियो के विषय मे बुरा ही अनुभव हुआ तथापि उनका ब्रिटिश प्रजा-सत्ता मे बडा ही दृढ विश्वास हो गया। उन्होने यहातक कहा था कि पजाब के अत्याचारो का चित्र 'सिनेमेटोग्राफ' यत्र द्वारा ब्रिटिश प्रजासत्तावादियो को दिखाना चाहिए। मैने यहा इस बात का उल्लेख इसलिए नही किया कि मै भी ब्रिटिश प्रजासत्ता पर विश्वास रखता हू (जो कि मै नही रखता), पर यह दिखाने के लिए कि वह अग्रेज-जाति के प्रति घृणा का भाव नही रखते थे। पर वह भारत और साम्राज्य की अवस्था को उस पिछली अवस्था में न तो रखना ही चाहते थे और न रख सकते थे।

वह चाहते थे कि शीघ्र ही भारत मे समानता का भाव रखा जाय और इसे वह देश का जन्मसिद्ध अधिकार समझते थे। भारत की स्वतत्रता के लिए उन्होने जो लडाई की उसमे सरकार को छोड नही दिया। स्वतत्रता के इस यज्ञ मे उन्होने न तो किसीकी मुरव्वत की और न किसीकी प्रतीक्षा ही की। मुझे आशा है, अग्रेज लोग उस महापुरुष को पहचानेगे, जिसकी भारत पूजा करता था।

भारत की भावी सतति के हृदय मे भी यही भाव बना रहेगा कि लोकमान्य नवीन भारत के बनानेवाले थे। वे निस्सदेह महा-

राज का स्मरण यह कह कर करेगे कि एक पुरुष था, जो हमारे लिए ही जन्मा और हमारे लिए ही मरा। ऐसे महापुरुष को मरना कहना ईश्वर की निंदा करना है। उनका स्थायी तत्व सदा के लिए हम लोगो मे व्याप्त हो गया। आओ, हम भारत के एकमात्र लोकमान्य का अविनाशी स्मारक अपने जीवन मे उनके साहस, उनकी सरलता, उनके आश्चर्यजनक उद्योग और उनकी स्वदेश-भक्ति को सीखकर बनावे। ईश्वर उनकी आत्मा को शांति प्रदान करे।[1]

... .

लोकमान्य तो एक ही थे। लोगो ने तिलक महाराज को जो पदवी, जो उच्चस्थान, दिया था वह राजाओ के दिये खितावो से लाख-गुना कीमती था। देश ने आज यह बात सिद्ध कर दिखाई है। यह कहे तो अत्युक्ति नही होगी कि सारी बबई लोकमान्य को पहुचाने के लिए उलट पडी थी।[2]

उनके आखिरी दिनो मे जो दृश्य मैंने अपनी आंखो से देखा वह कभी भुलाया नही जा सकता। लोगो के उस अगाध प्रेम का वर्णन करना असभव है।

फ्रास मे कहावत है कि 'राजा मर गये, राजा चिरजीव रहे।' यह विचार इगलैड आदि सारे देशो मे प्रचलित है और जब राजा की मृत्यु होती है तब यह कहावत कही जाती है। उसका भावार्थ यह है कि राजा तो मरता ही नही। राजतत्र एक मिनिट भी बद नही रहता।

उसी प्रकार तिलक महाराज भी मर नही सकते, न मरे ही। बंबई की जनता ने यह दिखला दिया कि वह जीते है और बहुत समय तक जीयेगे। उनके सगे-सबधियो को भले ही दु:ख हुआ हो, उन्होने भले ही आखो से मोती टपकाये हो, परतु दूसरे लोग तो उत्सव मनाने के लिए आये थे। बाजे और भजन लोगो को चेतावनी दे

---

[1] यग इडिया ४-८-२०

[2] यहा सकेत मृत्यु के समय से है।

रहे थे कि लोकमान्य मरे नहीं है। 'लोकमान्य तिलक महाराज की जय' ध्वनि से आकाश गूंज उठता थी। उस समय लोग इस बात को भूल गये थे कि हम तो तिलक महाराज के देह के दाह-कर्म के लिए आये है।

शनिवार की रात को जब मैंने उनके स्वर्गवास की खबर सुनी तब मेरा चित्त व्याकुल हो रहा था, पर जयघोष सुनकर मेरी बेचैनी जाती रही। मेरी भी यही धारणा हुई कि तिलक महाराज जीवित है। उनका क्षण-भगुर देह छूट गया है, पर उनकी अमर आत्मा तो लाखो लोगो के हृदय मे विराजमान है।

इस जमाने मे किसी भी लोकनायक को ऐसी मृत्यु का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ था। दादाभाई गये, फिरोजशाह गये, गोखले भी चले गये। सबके साथ हजारो लोग श्मशान तक गये थे, पर तिलक महाराज ने तो हद कर दी। उनके पीछे तो सारी दुनिया गई। रविवार को बबई बावली हो गई थी।

यह कैसा चमत्कार ! ससार मे चमत्कार नाम की कोई वस्तु ही नही। अथवा यो कहे कि जगत स्वय ही एक चमत्कृति है। बिना कारण के कोई काम नही होता। इस सिद्धात मे कोई अपवाद नही हो सकता। लोकमान्य का हिंदुस्तान पर असीम प्रेम था। इसी कारण लोक-प्रेम की भी मर्यादा नही रह गई थी। स्वराज्य के मत्र का जितना जप उन्होने किया है उतना दूसरा किसीने नही किया। जिस समय दूसरे लोग यह मानते थे कि हा अब भारत स्वराज्य के योग्य होगा, उस समय लोकमान्य सच्चे दिल से मानते थे कि भारत आज ही तैयार है। लोकमान्य की इस धारणा ने लोगो के मन को हर लिया था। ऐसा मानकर वह बैठे नही रहे, बल्कि जिंदगी भर उसके अनुसार काम किया। इससे जनता मे नवीन चैतन्य, नया जोश पैदा हुआ। उन्होने स्वराज्य प्राप्त करने की अपनी अधीरता का स्वाद लोगो को चखाया और ज्यो-ज्यो जनता को उसका स्वाद मालूम होने लगा त्यो-त्यो वह उनकी तरफ खिचती गई।

उनपर अनेक तरह की आफते आई, तरह-तरह के कष्ट उन्हे सहने पडे, तो भी उन्होने उस मत्र का अनुष्ठान नही छोडा। इस तरह वह कठिन परीक्षाओ मे भी पास हुए। इससे जनता ने उन्हे अपने हृदय का सम्राट् बनाया और उनका वचन उसके लिए कानून की तरह मान्य हो गया।

देह के नष्ट हो जाने से ऐसा महान् जीवन नष्ट नही होता, वल्कि देह-पात के वाद से तो वह गुरु होता है।

जिसे हम पूजनीय मानते है उसकी सच्ची पूजा तो उसके सद्गुणो का अनुकरण करना ही है। लोकमान्य अत्यत सादगी के साथ रहते थे। उनके स्मरण के लिए हमे भी अपना जीवन सादा वनाना चाहिए। हमे उस सीमा तक वस्तुओ का त्याग करना चाहिए, जिस तक के लिए हमारा मन गवाही देता हो। अपने निश्चित कार्य को करने से कभी पीछे नही हटना चाहिए। वह विचारशील थे। हमे भी विचार करके ही वोलना और काम करना चाहिए। वह विद्वान् थे, अपनी मातृभाषा और सस्कृति पर उनका खूब प्रभुत्व था। हमे भी उनकी तरह विद्वान् होने का निश्चय करना चाहिए। व्यवहार मे विदेशी भाषा का त्याग करके मातृ-भाषा का काफी ज्ञान प्राप्त करना और उसीके द्वारा अपने विचारो को प्रकट करने का अभ्यास करना चाहिए। हमे सस्कृत भाषा का अध्ययन करके अपने धर्म-शास्त्रो मे छिपे धर्म-रहस्यो को प्रकट करना चाहिए। वह स्वदेशी के प्रेमी थे। हमे भी स्वदेशी का अर्थ समझकर उसका व्यवहार करना चाहिए। उनके हृदय मे अपने देश के प्रति अथाह प्रेम था। हम भी अपने हृदय मे ऐसा प्रेम उदय करे और दिन-प्रतिदिन देश-सेवा मे अधिकाधिक तत्पर हो। इसी रीति से उनकी पूजा हो सकती है। जिनसे इतना न हो सके वे उनकी यादगार के लिए जितना हो सके धन दे और वह स्वराज्य के कार्य मे खर्च किया जाय।

लोकमान्य वर्त्तमान राज्य-मडल के कट्टर शत्रु थे। पर इससे यह न समझना चाहिए कि वह अग्रेजो से द्वेष करते थे। जो

लोग ऐसा समझते है वे भूल करते है। उन्ही के श्रीमुख से मैंने कई बार अंग्रेजो की प्रशंसा सुनी है। वह अंग्रेजी राज्य को सदैव तो भी अनिष्ट नही मानते थे। वह तो सिर्फ अपनेको अंग्रेजो के बराबर मनवाना चाहते थे। किसीका भी गुलाम बनकर रहना उन्हें पसंद न था।

"शठ प्रति शाठ्यम्" तिलक महाराज का जीवन-मंत्र नही था। अगर ऐसा होता तो वह इतनी लोकप्रियता प्राप्त न कर सकते। मेरी जान मे संसार-भर मे ऐसा भी एक उदाहरण नही है, जिसमे किसी मनुष्य ने उस सिद्धात पर अपना जीवन-निर्माण किया हो और फिर भी वह लोकमान्य बन सका हो। यह सच है कि इस बारे मे जितना गहरा मैं पैठता हू, वह नही पैठते थे। हम शठ के प्रति शाठ्य का कदापि उपयोग कर ही नही सकते। 'गीता-रहस्य' में एक-दो स्थानो में, सिर्फ एक-ही दो स्थानो मे, उस बात का थोडा समर्थन जरूर मिलता है। लोकमान्य मानते थे कि राष्ट्र-हित के लिए अगर कभी शाठ्य से, दूसरे शब्दो मे 'जैसे को तैसा' सिद्धात से, काम लेना पडे तो ले सकते है। साथ ही वह यह भी मानते तो थे ही कि शठ के सामने भी सत्य का प्रयोग करना अच्छा है, यही सत्य सिद्धात है। मगर उस संबंध मे वह कहा करते थे कि साधु लोग ही उस सिद्धात पर अमल कर सकते है। तिलक महाराज की व्याख्या के मुताबिक साधु लोगो से अर्थ वैरागियो का नही, बल्कि उन लोगो से होता है जो दुनिया से अलिप्त रहते है, दुनियादारी के कामो मे भाग नही लेते। इससे यह अर्थ नही निकलता कि अगर कोई दुनिया मे रहकर उस सिद्धात का पालन करे तो अनुचित होगा—हा, वह न कर सके यह दूसरी बात है। वह मानते थे कि शाठ्य का उपयोग करने का हमें अधिकार है।

लेकिन ऐसे महान् पुरुष के जीवन का मूल्य ठहराने का हमें कोई अधिकार हो तो हम विवादास्पद बातो से उसका मूल्य न

---

[१] हिंदी नवजीवन, ६-८-२२

ठहरावे। लोकमान्य का जीवन भारत के लिए, समस्त विश्व के लिए, एक बहुमूल्य विरासत है। उसकी पूरी कीमत तो भविष्य मे निश्चित होगी। इतिहास ही उसकी कीमत का अनुमान लगावेगा, वही लगा सकता है। जीवित मनुष्य का ठीक-ठीक मूल्य, उसका सच्चा महत्व, उसके समकालीन कभी ठहरा ही नही सकते। उनसे कुछ-न-कुछ पक्षपात तो हो ही जाता है, क्योकि रागद्वेष-पूर्ण लोग ही इस काम के कर्ता भी होते है। सच पूछा जाय तो इतिहासकार भी राग-द्वेष-रहित नही पाये जाते। समकालीन व्यक्ति मे विशेष पक्षपात होने की सभावना रहती है। लोकमान्य के महान् जीवन का उपयोग तो यह है कि हम उनके जीवन के शाश्वत सिद्धातो का सदा स्मरण और अनुकरण करे।

तिलक महाराज का देश-प्रेम अटल था। साथ ही उनमे तीक्ष्ण न्याय-वृत्ति भी थी। इस गुण का परिचय मुझे अनायास मिला था। १९१७ की कलकत्ता-महासभा के दिनो मे, हिदी साहित्य सम्मेलन की सभा मे भी वह आये थे। महासभा के काम से उन्हे फुर्सत तो कैसे हो सकती थी? फिर भी वह आये और भाषण करके चले गये। मैने वही देखा कि राष्ट्र-भाषा हिदी के प्रति उनमे कितना प्रेम था। मगर इससे भी बढकर जो बात मैने उनमे देखी, वह थी अग्रेजो के प्रति की उनकी न्याय-वृत्ति। उन्होने अपना भाषण ही यो शुरू किया था—"मै अग्रेजी शासन की खूब निंदा करता हू, फिर भी अग्रेज विद्वानो ने हमारी भाषा की जो सेवा की है, उसे हम भुला नही सकते।" उनका आधा भाषण इन्ही बातो से भरा था। आखिर उन्होने कहा था कि अगर हमे राष्ट्र-भाषा के क्षेत्र को जीतना और उसकी वृद्धि करना हो तो हमे भी अंग्रेज विद्वानो की भाति ही परिश्रम और अभ्यास करना चाहिए। अपनी लिपि की रक्षा और व्याकरण की व्यवस्था के लिए हम एक बडी हद तक अग्रेज विद्वानो के आभारी है। जो पादरी आरभ मे आये थे, उनमे पर-भाषा के लिए प्रेम था। गुजराती मे टेलर-कृत व्याकरण कोई साधारण वस्तु नही है। लोकमान्य ने इस बात

का विचार भी नही किया कि अग्रेजो की स्तुति करने से मेरी लोक-प्रियता घटेगी। लोगो का तो यही विश्वास था कि वह अग्रेजो की निदा ही कर सकते है।

तिलक महाराज मे जो त्याग-वृत्ति थी, उसका सौवा या हजारवा भाग की हम अपने मे नही वता सकते। और उनकी सादगी ? उनके कमरे मे न तो किसी तरह का फर्नीचर होता था, न कोई खास सजावट। अपरिचित आदमी तो खयाल भी नही कर सकता था कि वह किसी महान् पुरुप का निवास-स्थान है। रग-रग मे भिदी हुई उनकी इस सादगी का हम अनुकरण करे तो कैसा हो ? उनका धैर्य तो अद्भुत था ही। अपने कर्तव्य मे वह सदा अटल रहते और उसे कभी भूलते ही न थे। धर्मपत्नी की मृत्यु का सवाद पाने पर भी उनकी कलम चलती ही रही। क्या हम तिलक महाराज के जीवन का एक भी ऐसा क्षण वतला सकते है, जो भोग-विलास मे वीता हो ? उनमे जवर्दस्त सहिष्णुता थी। यानी वह चाहे जैसे उद्दड-से-उद्दड आदमी से भी काम करवा लेते थे। लोकनायक मे यह शक्ति होनी चाहिए। इससे कोई हानि नही होती। अगर हम सकुचित हृदय वन जाय और सोच ले कि फला आदमी से काम लेगे ही नही, तो या तो हमे जगल मे जाकर वस जाना चाहिए, या घर वैठे-वैठे गृहस्थ का जीवन विताना चाहिए। इसमे शर्त यही है कि स्वय अलिप्त रह सके।

मुह से तिलक महाराज का वखान करके ही हम चुप न हो वठे। काम, काम और काम ही हमारा जीवन-सूत्र होना चाहिए। जव कि हम स्वराज्य-यज्ञ को चालू रखना चाहते है, हमे चाहिए कि हम निकम्मे साहित्य का पटना वद कर दे, निरर्थक वाते करना छोड दे और अपने जीवन का एक-एक क्षण स्वराज्य के काम मे विताने लगे। आप पूछेगे कि क्या पढाई छोडकर यह काम करे ? १९२१ मे भी विद्यार्थियो के साथ मेरा यही झगडा था कि तिलक महाराज ने क्या किया था ? उन्होने जो वडे-वडे ग्रथ लिखे, वे वाहर रहकर नही, जेल मे रहकर लिखे थे। 'गीता-रहस्य' और

'आर्क्टिक होम' वह जेल मे ही लिख सके थे। बडे-बडे मौलिक ग्रथ लिखने की शक्ति होते हुए भी उन्होने देश के लिए उसका बलिदान किया था। उन्होने सोचा, "घर के चारो ओर आग भभक उठी है। इसे जितनी बुझा सकू, उतनी तो बुझाऊ।" उन्होने अगर हजार घडे पानी से वह बुझाई हो तो हम एक ही घडा डाले, मगर डाले तो सही। पढाई आदि आवश्यक होते हुए भी गौण बाते है। अगर स्वराज्य के लिए इनका उपयोग होता हो तो करना चाहिए, अन्यथा इन्हे तिलाजलि देनी चाहिए। इससे न हमारा नुकसान है और न ससार का।

तिलक महाराज अपने जीवन द्वारा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण छोड गये है। जिनके जीवन मे से इतनी सारी बाते ग्रहण करने योग्य हो, जिनकी विरासत इतनी जबर्दस्त हो, उनके सबध मे उक्त प्रश्न के लिए गुजाइश ही नही रहती है। हमारा धर्म तो गुणग्राही बनने का है।

आज हमे जो काम करना है, वह मुर्दार आदमियो के करने से तो हो नही सकता। स्वराज्य का काम कठिन है। भारत मे आज एक लहर बह रही है। उसमे खिचकर हम भाषण करते है, धीगाधीगी मचाते है, तूफान खडे करते है, मनमाने तौर पर सस्थाओ मे घुस जाते है और फिर उन्हे नष्ट करते एव धारासभाओ मे जाकर भाषण करते है। तिलक महाराज के जीवन मे ये बाते हमारे देखने मे भी नही आती। उनके जीवन के जो गुण अनुकरणीय है, सो तो मै ऊपर कह ही चुका हू।[1]

---

[1] लोकमान्य की पुण्यतिथि पर गुजरात विद्यापीठ में दिया गया भाषण।

: १२ :

अब्बास तैयबजी

सबसे पहले सन् १९१५ मे मै अब्बास तैयबजी से मिला था। जहा कही मै गया, तैयबजी-परिवार का कोई-न-कोई स्त्री-पुरुष मुझसे आकर जरूर मिला। ऐसा मालूम पडता है, मानो इस महान् और चारो तरफ फैले हुए परिवार ने यह नियम ही बना लिया था। हमारे बीच इस अटूट सबध का खास कारण क्या था? सिवा इसके मुझे और कुछ मालूम नही कि जिस सुप्रतिष्ठित न्यायाधीश के कारण यह वश प्रसिद्ध है उससे सन् १८९० मे मेरी मित्रता हो गई थी, जबकि मै दक्षिण अफ्रीका से हिंदुस्तान वापस आया था और बिल्कुल अनजान व्यक्ति था। कुछ लोगो के विचार मे तो मै सभवत एक दु साहसी आदमी था, लेकिन बदरुद्दीन तैयबजी और कुछ अन्य व्यक्ति ऐसे भी थे, जिनका, यह खयाल नही था।

मगर मुझे तो बडौदा के अब्बास मिया के विषय पर ही आना चाहिए। जब हम एक-दूसरे से मिलते और मै उनके मुह की ओर देखता तो मुझे स्व० जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजी का स्मरण हो आता था। हमारी उस मुलाकात से हमारे बीच जन्म-भर के लिए मित्रता की गाठ बध गई। मैने उन्हे हरिजनो का मित्र ही नही, बल्कि उन्हीमे का एक पाया। बहुत दिन पहले गोधरा मे, शाम को हरिजनो की बस्ती मे होनेवाले एक अस्पृश्यता-विरोधी-सम्मेलन मे जब मैने उन्हे बुलाया तो दर्शको को बडा आश्चर्य हुआ, लेकिन अब्बास मिया ने हरिजनो के काम मे उसी उत्साह से भाग लिया, जैसे कोई कट्टर हिंदू ले सकता है। इतने पर भी वह कोई साधारण मुसलमान नही थे। इस्लाम के लिए उन्होने मुक्तहस्त से दान दिया और कई मुस्लिम सस्थाओ को वह सहायता देते रहते थे। मगर हरिजनो को मुसलमान बनाने जैसा कोई विचार उनके मन मे नही था। उनके इस्लाम मे भूमडल के तमाम महान् धर्मो के

लिए गुंजाइश थी। इसीलिए अस्पृश्यता-विरोधी-आंदोलन मे वह हिंदुओ की ही तरह उत्साहपूर्वक भाग लेते थे, और मै जानता हू कि जबतक वह जिंदा रहे तबतक उनका यह उत्साह बराबर वैसा ही बना रहा।

असल बात यह है कि उन्होने आधे मन से कभी कोई काम नही किया। अब्बास तैयबजी अपने मन मे कोई बात छिपा कर नही रखते थे। पंजाब की पुकार का उन्होने तत्क्षण जवाब दिया। उनकी आयु के और ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसने जीवन मे कभी कोई मुसीबत नही झेली, जेलो की सख्तियां बर्दाश्त करना कोई मजाक नही था। लेकिन उनकी श्रद्धा ने हरेक कठिनाई को विजय कर लिया। हँसते-हँसाते खेडा के किसानो की तरह ही सादा जीवन व्यतीत करते, उन्हीका-सा खाना खाते और सब मौसमो मे उन्हीकी रद्दी-सड्डी गाडियो मे सफर करने की क्षमता से अनेक नौजवानो को उनके सामने शर्मिंदा होना पडा। ऐसी असुविधाओ के बारे मे, जिन्हे कि बचाया जा सकता हो, मैने उनको कभी शिकायत करते हुए नही सुना। "क्यो ?" का प्रश्न करना उनका काम नही था, वह तो काम करने और अपनेको झोक देने की बात जानते थे। हालाकि एक समय चीफ जज की हैसियत से उन्हे किसीको मृत्युदण्ड देने और अपनी आज्ञा-पालन कराने की सत्ता प्राप्त थी, फिर भी बिना किसी उज्र के अनुशासन पालन करने की आश्चर्यजनक क्षमता उन्होने प्रदर्शित की। वह मनुष्य-जाति के विरले सेवको मे से थे। भारत-सेवक भी वह इसीलिए थे कि वह मनुष्य-जाति के सेवक थे। ईश्वर को वह दरिद्र-नारायण के रूप मे मानते थे। उनका विश्वास था कि परमेश्वर दीन-दुखियो के बीच ही रहता है। अब्बास मियां का शरीर यद्यपि इस समय कब्र मे विश्राम कर रहा है, पर वह मरे नही है। उनका जीवन हम सबके लिए एक स्फूर्ति है, एक प्रेरणा है।[१]

---

[१] हरिजन सेवक, २०-८-३६

: १३ :

देशबंधु चित्तरंजन दास

देशवधु दास एक महान् पुरुप थे। मै गत छ वर्षो से उन्हें जानता हू। कुछ ही दिन पहले जव मै दार्जिलिग से उनसे विदा हुआ था तव मैंने एक मित्र से कहा था कि जितनी ही घनिष्ठता उनसे वढती है उतना ही उनके प्रति मेरा प्रेम वढता जाता है। मैंने दार्जिलिग मे देखा कि उनके मन मे भारत की भलाई के सिवा और कोई विचार न था। वह भारत की स्वाधीनता का ही सपना देखते थे, उसीका विचार करते थे और उसीकी वातचीत करते थे, और कुछ नही। दार्जिलिग से विदा होते समय भी उन्होने मुझसे कहा था कि आप विछुडे हुए दलो को एक करने के लिए वगाल मे अधिक समय तक ठहरिये, ताकि सव लोगो की शक्ति एक कार्य के लिए युक्त हो जाय। मेरी वगाल-यात्रा मे उनसे मत-भेद रखनेवालो ने भी विना हिचकिचाहट के इस वात को स्वीकार किया है कि वगाल मे ऐसा कोई मनुष्य नही है, जो उनका स्थान ले सके। वह निर्भीक थे, वीर थे। वगाल मे नवयुवको के प्रति उन-का निस्सीम स्नेह था। किसी नवयुवक ने मुझसे ऐसा नही कहा कि देशवधु से सहायता मागने पर कभी किसीकी प्रार्थना खाली गई। उन्होने लाखो रुपया पैदा किया और लाखो रुपया वगाल के नव-युवको मे वाट दिया। उनका त्याग अनुपम था, और उनकी महान् वुद्धिमत्ता और राजनीतिज्ञता की वात मै क्या कह सकता हू! दार्जिलिग मे उन्होने मुझसे अनेक वार कहा कि भारत की स्वाधीनता अहिसा और सत्य पर निर्भर है।

देशवधु ने पटना और दार्जिलिग मे चरखा कातने की कोशिश की थी। मैंने उनको चरखा का पाठ पढाया था और उन्होने मुझ-से वादा किया था कि मै कातना सीखने की कोशिश करूगा और जवतक शरीर रहेगा तवतक कातूगा। उन्होने अपने दार्जिलिग

के निवास-स्थान को 'चरखा-क्लव' वना दिया था। उनकी नेक पत्नी ने वादा किया कि वीमारी की हालत छोडकर मै रोज आध घटे तक स्वय चरखा चलाऊगी और उनकी लडकी, वहन और वहन की लडकी तो वरावर ही चरखा कातती थी।

देशवधु मुझसे अक्सर कहा करते—"मै समझता हू कि धारा सभा मे जाना जरूरी है मगर चरखा कातना भी उतना ही जरूरी है। न सिर्फ जरूरी है, वल्कि विना चरखे के धारा सभा के काम को कारगर वनाना असभव है।" उन्होने जवसे खादी की पोशाक पहनना शुरू किया तव से मरने के दिन तक पहनते आये।

मेरे लिए यह कहने की वात नही है कि उन्होने हिंदू-मुसलमानो मे मेल करने के लिए कितना वडा काम किया था। अछूतो से वह कितना प्रेम रखते थे, इसके विषय मे सिर्फ वही एक वात कहूगा जो मैने वारीसाल मे कल रात को एक नाम-शूद्र नेता से सुनी थी। उस नेता ने कहा—"मुझे पहली आर्थिक सहायता देशवधु ने दी और पीछे डाक्टर राय ने।" देशवधु देश-सेवको मे एक रत्न थे। उनकी सेवा और त्याग वेजोड था। ईश्वर करे, उनकी याद हमे सदा वनी रहे और उनका आदर्श हमारे सदुद्योग मे सार्थक हो। हमारा मार्ग लवा और दुर्गम है। हमको उसमे आत्म-निर्भरता के सिवा और कोई सहारा नही देगा। स्वावलवन ही देशवधु का मुख्य सूत्र था। वह हमे सदा अनुप्राणित करता रहेगा।[1]

* * *

मनुष्यो मे से एक दिग्गज पुरुष उठ गया। १९१९ मे, पंजाव महासभा जाच-समिति के सिलसिले मे उनसे पहले-पहल मेरा प्रत्यक्ष परिचय हुआ। मै उनके प्रति सशय और भय के भाव लेकर उनसे मिलने गया था। दूर से ही मैने उनकी धुआधार वकालत और उससे भी अधिक धुआधार वक्तृत्व का हाल सुना था। वह अपनी मोटरकार लेकर सपत्नीक, सपरिवार आये थे और

---

[1] हिंदी नवजीवन, २५-६-२५

एक राजा की शान-बान के साथ रहते थे। मेरा पहला अनुभव तो कुछ अच्छा न रहा। हम हंटर-कमिटी की तहकीकात में गवाहियां दिलाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए बैठे थे। मैंने उनके अंदर तमाम कानूनी बारीकियों को तथा गवाह को जिरह में तोड़कर फौजी कानून के राज्य की, बहुतेरी शरारतों की कलई खोलने की, वकीलोचित तीव्र इच्छा देखी। मेरा प्रयोजन कुछ भिन्न था। मैंने अपना कथन उन्हें सुनाया। दूसरी मुलाकात में मेरे दिल को तसल्ली हुई और मेरा तमाम डर दूर हो गया। उनसे मैंने जो कुछ कहा उसको उन्होंने उत्सुकता के साथ सुना। भारतवर्ष में पहली ही बार बहुतेरे देशसेवकों के घनिष्ठ समागम में आने का अवसर मुझे मिला था। तबतक मैंने महासभा के किसी काम में वैसे कोई हिस्सा न लिया था। वह मुझे जानते थे— एक दक्षिण अफ्रीका का योद्धा है। पर मेरे तमाम साथियों ने मुझे अपने घर का-सा बना लिया, और देश के इस विख्यात सेवक का नंबर इसमें सबसे आगे था। मैं उस समिति का अध्यक्ष माना जाता था। "जिन बातों में हमारा मतभेद होगा उनमें मैं अपना कथन आपके सामने उपस्थित कर दूंगा। फिर जो फैसला आप करेंगे उसे मैं मान लूंगा। इसका यकीन मैं आपको दिलाता हूं।" उनके इस स्वयंस्फूर्त आश्वासन के पहले ही हममें इतनी घनिष्ठता हो गई थी कि मुझे अपने मन का संशय उनपर प्रकट करने का साहस हो गया। फिर जब उनकी ओर से यह आश्वासन मिल गया तब मुझे ऐसे मित्र-निष्ठ साथी पर अभिमान तो हुआ, किंतु साथ ही कुछ संकोच भी मालूम हुआ, क्योंकि मैं जानता था कि मैं तो भारत की राजनीति में एक नौसिखिया था और शायद ही ऐसे पूर्ण विश्वास का अधिकारी था। परंतु तंत्र-निष्ठा छोटे-बड़े के भेद को नहीं जानती। वह राजा जो कि तंत्र-निष्ठा के मूल्य को जानता है अपने सेवक की भी बात, उस मामले में मानता है, जिसका पूरा भार उसपर छोड़ देता है। इस जगह मेरा स्थान एक सेवक के जैसा था। और मैं इस बात का उल्लेख कृतज्ञता और अभिमान के साथ करता

हू कि मुझे जितने मित्र-निष्ठ साथी वहा मिले थे, उनमे कोई इतना मित्र-निष्ठ न था जितना चित्तरजन दास थे।

अमृतसर-धारा-सभा मे तत्र-निष्ठ का अधिकार मुझे नही मिल सकता था। वहा हम परस्पर योद्धा थे, हर शख्स को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार राष्ट्र-हित-सबधी अपने ट्रस्ट की रक्षा करनी थी, जहा तर्क अथवा अपने पक्ष की आवश्यकता के अलावा किसीकी बात मान लेने का सवाल न था। महासभा के मच पर पहली लडाई लडना मेरे लिए एक पूरे आनद और तृप्ति का विषय था। वडे सभ्य, उसी तरह न झुकनेवाले महान् मालवीयजी बला-बल को सामने रखने की कोशिश कर रहे थे। कभी एक के पास जाते थे,कभी दूसरे के पास। महासभा के अध्यक्ष पडित मोतीलाल-जी ने सोचा कि खेल खतम हो गया। मेरी तो लोकमान्य और देशवधु से खासी जम रही थी। सुधार-सवधी प्रस्ताव का एक ही सूत्र उन दोनो ने बना रखा था। हम एक-दूसरे को समझा देना चाहते थे, पर कोई किसीका कायल न होता था। वहुतो ने तो सोचा था कि अव कोई चारा नही था और इसका अत बुरा रहेगा। अलीभाई, जिन्हे मै जानता था और चाहता था, पर आज की तरह जिनसे मेरा परिचय न था, देशवधु के प्रस्ताव के पक्ष मे मुझे समझाने लगे। मुहम्मद अली ने अपनी लुभावनी नम्रता से कहा, "जाच-समिति मे आपने जो महान् कार्य किया है, उसे नष्ट न कीजिये।" पर वह मुझे न पटा सके। तव जयरामदास वह ठडे दिमागवाला सिधी आया, और उसने एक चिट मे समझौते की सूचना और उसकी हिमायत लिखकर मेरे पास पहुचाई। मै शायद ही उन्हे जानता था। पर उनकी आखो और चेहरे मे कोई ऐसी वात थी जिसने मुझे लुभा लिया। मैने उस सूचना को पढा। वह अच्छी थी। मैने उसे देशवधु को दिया। उन्होने जवाब दिया, "ठीक है, बशर्तेकि हमारे पक्ष के लोग उसे मान ले।" यहा ध्यान दीजिये उनकी घनिष्ठता पर। अपने पक्ष के लोगो का समाधान किये विना वह नही रहना चाहते थे। यही एक रहस्य है लोगो के

हृदय पर उनके आश्चर्यजनक अधिकार का। वह सब लोगो को पसद हुई। लोकमान्य अपनी गरुड के सदृश तीखी आखो से वहा जो कुछ हो रहा था सब देख रहे थे। व्याख्यान-मच से पडित मालवीयजी की गगा के सदृश वाग्धारा वह रही थी। उनकी एक आख सभामच की ओर देख रही थी जहाकि हम साधारण लोग बैठकर राष्ट्र के भाग्य का निर्णय कर रहे थे। लोकमान्य ने कहा—"मेरे देखने की जरूरत नही। यदि दास ने उसे पसद कर लिया है तो मेरे लिए वह काफी है।" मालवीयजी ने उसे वहा से सुना, कागज मेरे हाथ से छीन लिया और घोर करतल ध्वनि से घोषित कर दिया कि समझौता हो गया। मैंने इस घटना का सविस्तर वर्णन इसलिए किया है कि उसमे देशवधु की महत्ता और निर्विवाद नेतृत्व, कार्य-विषयक दृढता, निर्णय-सबधी समझदारी और पक्ष-निष्ठा के कारणो का सग्रह आ जाता है।

अब और आगे बढिये। हम जुहू, अहमदाबाद, दिल्ली और दार्जिलिग पहुचते है। जुहू मे वे और पडित मोतीलालजी मुझे अपने पक्ष मे मिलाने के लिए आये। वह दोनो जोडवा भाई हो गये थे। हमारे दृष्टि-बिंदु अलग-अलग थे, पर उन्हे यह गवारा न होता था कि मेरे साथ मतभेद रहे। यदि उनके बस का होता तो वे ५० मील चले जाते जहा मै सिर्फ २५ मील चाहता, परतु वे अपने एक अत्यत प्रिय मित्र के सामने भी एक इच न झुकना चाहते थे, जहा कि देशहित सकट मे था। हमने एक प्रकार का समझौता कर लिया। हमारा मन तो न भरा, पर हम निराश न हुए। हम एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करने के लिए तुले हुए थे। फिर हम अहमदाबाद मे मिले। देशवधु अपने पूरे रग मे थे और एक चतुर खिलाडी की तरह सब रग-ढग देखते थे। उन्होने मुझे एक शान की शिकस्त दी। उनके जैसे मित्र के हाथो ऐसी कितनी शिकस्त मै न खाऊगा! पर अफसोस! वह शरीर अब दुनिया मे नही रहा!

वह अक्सर आध्यात्मिकता की बाते करते थे और कहते

थे कि धर्म के विषय मे आपका मेरा कोई मतभेद नही है। पर यद्यपि उन्होने कहा नही तथापि हो सकता है कि उनका भाव यह रहा हो कि मैं इतना काव्यहीन हू कि मुझे हमारे विश्वासो की एकात्मता नही दिखाई देती। मैं मानता हू कि उनका खयाल ठीक था। उन बहुमूल्य पाच दिनो मे मैंने उनका हर कार्य धर्ममय देखा और न केवल वह महान् थे, बल्कि नेक भी थे, उनकी नेकी बढती जा रही थी।

जबकि क्रूर दैव ने लोकमान्य को हमसे छीन लिया तब मैं अकेला असहाय रह गया। अभी तक मेरी वह चोट गई नही है, क्योकि अबतक मुझे उनके प्रिय शिष्यो की आराधना करनी पडती है। पर देशबधु के वियोग ने तो मुझे और भी बुरी हालत मे छोड दिया है।[1]

... ...

उनका त्याग महान् था। उनकी उदारता की सीमा न थी। उनकी मुट्ठी सदा सबके लिए खुली रहती थी। दान देने मे वह कभी आगा-पीछा न सोचते थे। उस दिन मैंने बडे मीठे भाव से कहा, "अच्छा होता, आप दान देने मे अधिक विचार से काम लेते।" उन्होने तुरत उत्तर दिया, "पर मैं नही समझता कि अपने अविचार के कारण मेरी कुछ हानि हुई है।" अमीर और गरीब सबके लिए उनका रसोई-घर खुला था। उनका हृदय हरेक की मुसीबत के समय उसके पास दौड जाता था। सारे बगाल मे ऐसा कौन नवयुवक है, जो किसी-न-किसी रूप मे देशबधु का कृतज्ञ नही है? उनकी बेजोड कानूनी प्रतिभा भी सदा गरीबो की सेवा के लिए हाजिर रहती थी। मुझे मालूम हुआ है कि उन्होने यदि सबकी नही तो, बहुतेरे राजनैतिक कैदियो की पैरवी बिना एक कौडी लिये की है। पजाब की जाच के समय जब वह पंजाब गये तो अपना सारा खर्च अपनी जेब से किया था। उन दिनो अपने

---

[1] हिंदी नवजीवन २५-६-२५

साथ वह एक राजा की तरह लवाजमा ले गये थे। उन्होंने मुझसे कहा था कि पंजाब की इस यात्रा में उनके पचास हजार रुपये खर्च हुए थे। जो उनके द्वार पर आता था उसीके लिए उनकी उदारता का हाथ आगे बढ़ जाता था। उनके इसी गुण ने उन्हें हजारों नवयुवकों के दिल का राजा बना दिया था।

जैसे ही वह उदार थे वैसे ही निर्भीक भी थे अमृतसर में उनकी धुआंधार वक्तृताओं ने मेरा दम खुश्क कर दिया था। वह अपने देश की मुक्ति तुरंत चाहते थे। वह एक विशेषण को हटाने या बदलने के लिए तैयार न थे इसलिए नहीं कि वह जिद्दी थे, बल्कि इसलिए कि वह अपने देश को बहुत चाहते थे। उन्होंने विशाल शक्तियों को अपने कब्जे में रखा। अपने अदम्य उत्साह और अध्यवसाय के द्वारा उन्होंने अपने दल को प्रबल बनाया। परंतु यह भीषण शक्ति-प्रवाह उनकी जान ले बैठा। उनका यह बलि-दान स्वेच्छापूर्वक था। वह उच्च था, उदात्त था।[1]

कलकत्ता १८ ता० को पागल हो गया था। अरु-शास्त्री कहते हैं कि २ लाख से कम आदमी इकट्ठे न हुए थे। रास्तों पर खड़े, तार के खंभों पर चढ़े, ट्राम की छत पर खड़े, झरोखों में राह देखते हुए बैठे स्त्री-पुरुष इससे जुदा हैं।

साथ भजन-कीर्तन तो था ही। पुष्पों की वृष्टि हो रही थी। शव खुला हुआ था, परंतु उसपर फूलों के हार का पहाड़ बिछ गया था।

अर्थी के जुलूस के आगे स्वयंसेवक फुलवाड़ी लेकर चल रहे थे। उसमें फूलों से सुसज्जित चरखा था। जुलूस स्टेशन से ७-३० पर चलकर श्मशान में ३ बजे पहुंचा। ३-३० बजे अग्नि-संस्कार शुरू हुआ।

श्मशान-घाट पर भीड़ उमड़ी थी। पीछे से जो भीड़ उमड़ती थी उसे रोकना अति कठिन था और मैं समझता हूं कि यदि मुझे

---

[1] हिंदी नवजीवन २५-६-२५

हट्टे-कट्टे लोगो ने अपने कधे पर बिठाकर इस उमडती हुइ भीड के सामने न उठा रखा होता तो भयकर दुर्घटना हो जाती। दो सशक्त आदमियो ने मुझे अपने कधे पर बिठा रखा और उस हालत मे मै लोगो को रोक रहा था और उनसे बैठ जाने की प्रार्थना कर रहा था। लोग जबतक मुझे देखते थे तबतक तो मानते थे, पर मै जहा अशाति की आशका होती उस ओर गया कि मेरी पीठ फिरते ही लोग तुरत उठ खडे हो जाते थे। सब लोग दीवाने हो गये थे। हजारो आखे रथी की ओर लगी हुई थी। जब दाहकर्म शुरू हुआ तब लोग धीरज खो बैठे। सब बरबस खडे हो गये और चिता की ओर खिच पडे। यदि एक भी क्षण का विलब होता तो सबके चिता पर गिर पडने का अदेशा था। अब क्या करें? मैने लोगो से कहा, "अब काम पूरा हुआ। सब अपने-अपने घर जावे।" और मुझे उठानेवाले भाइयो से कहा, "अब मुझे इस भीड से हटा ले चलो।" लोगो को मै पुकार-पुकारकर और इशारे से कहता चला कि मेरे पीछे आओ। इसका असर बहुत अच्छा हुआ, वह हजारो की भीड वापस लौटी और दुर्घटना होते-होते बची। चिता चदन की लकडी की बनाई गई थी।

लोग ऐसे मालूम होते थे मानो वन-भोज को आये हो। गंभीरता तो सबके चेहरे पर थी, पर ऐसा नही मालूम होता था कि वे शोक-भार से दब गये है। कुटुम्बियो का और मेरा शोक स्वार्थ-पूर्ण मालूम होता था। हमारे तत्व-ज्ञान का अत आ गया, लोगो का कायम रहा, क्योकि वे तटस्थ थे। उनके अदर सम्मान का भाव तो पूरा-पूरा था। उनकी पूजा नि स्वार्थ थी। वे तो भारत-पुत्र को, अपने बधु को, प्रमाणपत्र देने के लिए आये थे। वे अपनी आखो से और चेष्टा से ऐसा कहते हुए दिखाई देते थे, "तुमने बडा काम किया, तुम्हारे जैसे हजारो हो।"

देशबधु जैसे भव्य थे वैसे ही भले थे। दार्जिलिंग मे इसका बड़ा अनुभव मुझे हुआ। उन्होने धर्म-सबधी बाते की। जिनकी छाप उनके दिल पर गहरी बैठी, उनकी बाते की। वह धर्म का अनु-

भव-ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक थे। "दूसरे देश मे जो कुछ हो, पर इस देश का उद्धार तो शातिमार्ग से ही हो सकता है। मै यहा के नवयुवको को दिखला दूगा कि हम शाति के रास्ते स्वराज्य प्राप्त कर सकते है।" 'यदि हम भले हो जायगे तो अग्रेजो को भला बना लेगे।" "इस अधकार और दभ मे मुझे सत्य के सिवा दूसरा कोई रास्ता नही दिखाई देता। दूसरे की हमे आवश्यकता भी नही।" "मै तमाम दलो मे मेल कराना चाहता हू। बाधा सिर्फ इतनी ही है कि हमारे लोग भीरु है। उनको एकत्र करने के प्रयत्न मे होता क्या है कि हमे भीरु बनना पडता है। तुम जरूर सबको मिलाने की कोशिश करना और मिलना, पत्र-सपादको को समझाना कि मेरी और स्वराज्य-दल की खामख्वा निंदा करने से क्या लाभ ? मैने यदि भूल की हो तो मुझे बतावे। मै यदि उन्हे सतुष्ट न करू तो फिर शौक से पेट भर के मेरी निंदा करे।" "तुम्हारे चरखे का रहस्य मै दिन-दिन अधिक समझता जाता हू। मेरा कधा यदि दर्द न करता हो और इसमे मेरी गति कुठित न हो तो मै तुरत सीख लू। एक बार सीखने पर नियमपूर्वक कातने मे मेरा जी न ऊबेगा। पर सीखते हुए जी उकता उठता है। देखो न, तार टूटते ही जाते है।" "पर आप ऐसा किस तरह कह सकते है ? स्वराज्य के लिए आप क्या नही कर सकते।" "हा-हा, यह तो ठीक ही है। मै कहा सीखने से नाही करता हू ? मै तो अपनी कठि-नाई बताता हू। पूछो तो बासतीदेवी से कि ऐसे काम मे मै कितना मदबुद्धि हू ?" बासतीदेवी ने उनकी मदद की, "ये सच कहते है। अपना कलमदान खोलना हो तो ताला लगाने मुझे आना पडता है।" मैने कहा, "यह तो आपकी चालाकी है। इस तरह आपने देशबधु को अपग बना रखा है, जिससे उन्हे सदा आपकी खुशामद करनी पडे और आप पर सहारा रखना पडे।" हँसी से कमरा गूज उठा। देशबधु मध्यस्थ हुए। "एक महीने बाद मेरी परीक्षा लेना। उस समय मै रस्सिया निकालता न मिलूगा।" मैने कहा, "ठीक है। आपके लिए सतीशबाबू शिक्षक भी भेजे देंगे। आप जब पास

हो जायगे तो समझियेगा कि स्वराज्य नजदीक आ गया ।" ऐसे सब विनोदो का वर्णन करने लगू तो खात्मा नही हो सकता ।

कितने ही सस्मरण तो ऐसे है, जिनका वर्णन मै कर ही नही सकता ।

मै जिस प्रेम का अनुभव वहा कर रहा था उसकी कुछ झलक यदि यहा न दिखाऊं तो मै कृतघ्न माना जाऊगा। वह छोटी-छोटी-सी बात की सभाल रखते थे । मेवे खुद कलकत्ते से मगवाते । दार्जिलिग मे बकरी या बकरी का दूध मिलना मुश्किल पडता है। इसलिए ठेठ तलहटी से पाच बकरिया मगवा कर रखी । मेरी जरूरत की एक-एक चीज का इतजाम किये बगैर न रहते थे । हमारे कमरे के दरम्यान सिर्फ एक दीवार थी । सुबह होते ही, काम-काज से निबटकर, मेरी राह देखते बैठते । चारपाई पर बैठते थे, चारपाई अभी नही छूटी थी । पल्थी मारकर बैठने की मेरी आदत से परिचित थे । सो कुरसी पर नही बैठने देते थे । खटिया पर ही अपने सामने मुझे बैठाते । गद्दे पर भी कुछ खास तौर पर बिछवाते और तकिया भी लगवाते । मुझसे दिल्लगी किये बिना न रहा गया, "यह दृश्य तो मुझे चालीस बरस पहले की याद दिलाता है । जब मेरी शादी हुई थी तब हम दुलहे-दुलहिन इस तरह बैठे थे । अब यहा पाणि-ग्रहण की ही कसर है ।" मेरे कहने की देर थी कि देशबधु के कहकहे से सारा घर गूज उठा । देशबधु जब हंसते तो उनकी आवाज दूर तक पहुचे बिना न रहती ।

देशबधु का हृदय दिन-पर-दिन कोमल होता जाता था । रूढि के अनुसार मास-मछली खाने मे उन्हे कोई विधि-निषेध न था । फिर भी जब असहयोग शुरू हुआ तब मासाहार, मद्यपान और चुरट तीनो चीजे उन्होने छोड दी थी । पीछे जाकर फिर उन्होने अपना जोर जमाया था, परतु उनका झुकाव इनको छोडने की ओर ही रहता था । अभी कुछ दिनो से राधास्वामी सप्रदाय के एक साधु से उनका समागम हुआ । तब से निरामिष भोजन की उत्सुकता बढ गई थी । सो जबसे वह दार्जिलिग गये, निरामिष भोजन शुरू

किया था। और मेरे रहने तक घर म मास-मछली न आने दिया। मुझसे अनेक वार कहा, "यदि मुझसे हो मका तो अव मे मै माम-मछली को छुऊगा तक नही। मुझे वह पसद थी नही और मै समझता हू कि इसमे हमारी आध्यात्मिक उन्नति मे वाधा पहुचती है। मेरे गुरु ने मुझे खास तौर पर कहा कि साधना के खातिर तुम्हे मासाहार अवश्य छोड देना चाहिए।"[1]

° °° °°

यदि हमे देशवधु की आत्मा को शाति दिलाना हो तो हमारे पास एक ही इलाज है। उनके तमाम सद्‌गुणो को हम अपने अदर पैदा करे। कितने ही सद्‌गुण तो अवश्य पैदा कर सकते है। उनके सदृश अग्रेजी चाहे हमे न आसके, उनकी तरह वकील हम सव न हो सके, धारासभा मे जाने की शक्ति उनके सदृश हमारे पास न हो, पर हमारे अदर उनके जैसा देशप्रेम तो हो सकता है। उनके वरावर उदारता हम सीख सकते है। उनके वरावर धन हम चाहे न दे सके, परन्तु जो यथाशक्ति देते है, उन्होने वहुत-कुछ दे दिया है। विधवा के एक तावे के छल्ले की कीमत महाराज के करोडो मे से दिये हजार की कीमत से ज्यादा है। देशवधु ने खादी पहनने के वाद फिर घर मे या वाहर उसका त्याग नही किया। क्या हम खादी पहनेगे ? देशवधु ने महीन खादी कभी न चाही उन्होन तो मोटी खादी को ही पसद किया था। देशवधु ने कातने का प्रयत्न किया। जिन्होने शुरू नही किया, क्या वे अव करेगे ?[2]

· १४ ·

महादेव देसाई

महादेव की अकस्मात् मृत्यु हो गई। पहले जरा भी पता

---

[1] हिंदी नवजीवन, २-७-२५
[2] हिंदी नवजीवन, ९-७-२५

नही चला । रात अच्छी तरह सोये । नाश्ता किया । मेरे साथ टहले । सुशीला[1] और जेल के डाक्टरो ने, जो कुछ कर सकते थे, किया लेकिन ईश्वर की मर्जी कुछ और थी । सुशीला और मैंने शव को स्नान कराया । शरीर शाति से पडा है, फूलो से ढका है, धूप जल रही है । सुशीला और मैं गीता-पाठ कर रहे है । महादेव की योगी और देशभक्त की भाति मृत्यु हुई है । दुर्गा, वावला और सुशीला से कहो, शोक करने की मनाई है । ऐसी महान् मृत्यु पर हर्ष ही होना चाहिए । अत्येष्ठि मेरे सामने हो रही है । भस्म रख लूगा ।[2]

भावना तो महादेव की खुराक थी । उसका वलिदान कोई छोटी चीज नही है । अकेला भी वह वहुत काम करेगा । मैं इसे शुभ शकुन मानता हू । शुद्धतम वलिदान हुआ है, इसका परिणाम अशुभ नही हो सकता । महादेव मेरा अतिरिक्त शरीर था । कितनी दफा मैंने उसे मैक्सवेल के पास भेजा है, दूसरो के पास भेजा है । मान लेता था कि महादेव को काम सौपा है तो वह कर लेगा ।

उसे मेरा वारिस होना था, पर मुझे उसका वारिस होना पडा है । महादेव की समाधि पर जाना मेरे लिए विल्कुल सहज वन गया है । मैं न जाऊ तो वेचैन हो जाऊ । वहा जाकर मैं कुछ करना नही चाहता, समय भी नही देना चाहता, मगर हो आता हू, इतना ही मेरे लिए वस है । अगर मैं जिदा रहा तो यह जमीन आगाखा[3] से माग लूगा । वह न दे, यह सभव हो सकता है । मगर किसी रोज तो हिंदुस्तान आजाद होगा । तव यह यात्रा का स्थान वनेगा । मैं वहा जाता हू तो महादेव के गुणो का स्मरण करने के लिए, उन्हे ग्रहण करने के लिए । मैं उसकी स्मृति को

[1] डा० सुशीला नैयर [2] आगाखा महल से १५-८-४२ को दिया तार

[3] महादेवभाई की मृत्यु आग़ाखां महल में हुई थी ।

खोना नही चाहता। और जिस तरह से वह यहा मरा, उससे उसकी स्त्री और उसके लडके के प्रति मेरी वफादारी भी मुझे बताती है कि मुझे वहा नियमित रूप से जाना चाहिए। हो सकता है कि मेरी जिदगी मे यह जगह मुझे न मिल सके और इस जगह को यात्रा-स्थल बनते मै न देख सकू, मगर किसी-न-किसी दिन वह जरूर बनेगा, इतना मै जानता हू।

आज तो मै सब काम उसका काम समझकर करता हू। बाहर जाऊगा तब भी उसीका काम करूगा।

• •

लगता ही नही कि महादेव सदा के लिए गया। कल रात को स्वप्न में वह लडकी कहती है, "महादेवभाई कहा है ?" मै उत्तर देता हू, "बहन, मै तो उसे श्मशान मे छोड आया हू।" पीछे वह पागल-सी हो जाती है, कहती है, "लाओ महादेव-भाई को ! उसे वहा क्यो छोड आये ?" महादेव की मै भाट की तरह स्तुति करता हू, मगर मेरा मन उसकी शिकायत भी करता है। उसकी मिसाल सपूर्ण या आदर्श नही मानना चाहिए। वह इस विचार का जप करते-करते चला गया कि मै बापू के बाद क्या कर सकता हू ? बापू से पहले चला जाऊ तो अच्छा है। मगर उसे तो कहना चाहिए था कि "नही, मुझे तो जिदा रहना है और बापू का काम करना है।" यह दृढ सकल्प उसे मरने से रोक भी लेता।[1]

मेरे विचार से महादेव के चरित्र की सबसे बडी खूबी थी मौका पडने पर अपनेको भूलकर शून्यवत् बन जाने की उनकी शक्ति।[2]

जमनालाल, मगनलाल और महादेव—इनमे से हरेक

---

[1] कारावास-कहानी [2] हरिजन सेवक १२-८-४६

अपने-अपने क्षेत्र मे अनूठे थे। मेरा खयाल है कि उनकी-जगह दूसरे नही ले सकते। मगर मै कहूगा कि इन तीनो मे से महादेव मुझमे पूरी तरह खो गया था। मै यह कह सकता हू कि मुझसे अलग उसकी कोई हस्ती ही नही रह गई थी।

महादेव की एक वडी खूवी यह थी कि जो काम उन्हे सौंपा जाता था, उसे करने के लिए वह सदा तैयार रहते और वडे उत्साह से करते थे। इसी तरह वह एक अच्छे लेखक, अच्छे रसोइया और अच्छे कुली वन सके थे। अक्सर जो लोग मेरे साथ काम करने के लिए आते है, वे ऐसे ही वन जाते है।[1]

..

महादेव गुलाव का फूल है।[2]

वह मेरे वॉसवेल (जीवनी लिखनेवाले) वनना चाहते थे, फिर भी मुझसे पहले मरना चाहते थे। इससे वेहतर वह क्या कर सकते थे? सो वह तो चले गये और मुझे उनकी जीवनी लिखने के लिए छोड गये। वच्चे अपने मा-वाप के पहले मरना चाहे तो इससे वढकर वेरहमी और क्या हो सकती है? यह उन-का निरा स्वार्थ है। भले ही मै दूसरो को इस वात का यकीन न दिला सकू, लेकिन यह मै जरूर महसूस करता हू कि मौत कभी वक्त से पहले नही आती। दुनिया मे अपना काम खत्म करने से पहले कोई मर्द या औरत कभी नही मरता। महादेव ने पचास साल मे सौ वरस का काम पूरा कर डाला था। सो वह आराम करने चले गये, जिसपर उनका पूरा हक था।[3]

.. ..

महादेव के मित्र और प्रगसक उनके प्रिय काम करके ही उनकी वरसी मना सकते है। वह वडे शक्तिशाली पुरुष थे। वह सुदर

---

[1] हरिजन सेवक १८-८-४६ [2] हरिजन सेवक, १८-८-४६

[3] हरिजन सेवक १८-८-४६

और सुडौल अक्षर लिखते थे। वह कई चीजो मे प्यार करते थे। लेकिन उन सबमे चर्खे की जगह पहली थी। एक कलाकार होने के नाते वह नियम से बहुत बढिया कताई करते थे। कामकाज के भारी बोझ से थककर चूर हो जाने पर भी वह हमेशा कातने का वक्त निकाल लेते थे। चर्खा उन्हे फिर तरोताजा बना देता था।

उनकी कई खूबियो मे उनके बेजोड अक्षर भी कोई कम महत्व नही रखते थे। उसमे कोई उनका सानी न था। रामदास स्वामी ने अपने एक दोहे मे खूबसूरत अक्षरो की चमकीले मोतियो से तुलना की है। महादेव की कलम से निकले हुए अक्षर खरे मोती जैसे होते थे।

उनकी तीसरी खूबी थी, हिंदुस्तान की भाषाओ से उनका प्रेम। वह भाषा-शास्त्री थे। बगाली, मराठी और हिंदी पर उनका पूरा अधिकार था और वह उर्दू भी सीख चुके थे।[1]

: १५ :

सरोजिनी नायडू

सरोजिनी देवी आगामी वर्ष के लिए महासभा[2] की सभा-नेत्री निर्वाचित हो गई। यह सम्मान उनको पिछले वर्ष ही दिया जानेवाला था। बडी योग्यता द्वारा उन्होने यह सम्मान प्राप्त किया है। उनकी असीम शक्ति के लिए और पूर्व और दक्षिण अफ्रीका मे राष्ट्रीय प्रतिनिधि के रूप मे की गई महान सेवा के लिए वह इस सम्मान की पात्र है और आजकल के दिनो मे जबकि स्त्री-जाति के अदर भारी जागृति हो रही है, स्वागत-कारिणी-समिति का भारतवर्ष की एक सर्वोत्तम प्रतिभाशालिनी पुत्री को सभापति चुनना भारतवर्ष की स्त्री-जाति का समुचित सम्मान करना है। उनके सभापति चुने जाने से हमारे प्रवासी देश-भाइयो

---

[1] हरिजन सेवक, ८-९-४६

[2] कांग्रेस

को पूर्ण सतोष होगा और इससे उनके अदर वह साहस पैदा होगा, जिससे वे अपने सामने उपस्थित लडाई को लड सकेंगे। राष्ट्र द्वारा दिये जाने वाले सबसे ऊंचे पद पर उनका होना स्वतन्त्रता को हमारे अधिक समीप लावे।[१]

अमेरिका के लिए श्री सरोजिनीदेवी ने गत १२ ता० को हिंदुस्तान का किनारा छोडा। यूरोप, अमेरिका, इत्यादि मुल्को मे अपनी स्थायी सभाए स्थापित करके या समय-समय पर अपने प्रतिनिधि भेजकर हमारे बारे मे जो झूठी मान्यताए प्रचलित हो गई है, उन्हे दूर करने की आशा अनेक आदमी रखते है। मुझे यह आशा हमेशा ही गलत जान पडी है। ऐसा करने से हम सार्वजनिक धन का और जिनका और अच्छा उपयोग हो सकता है, उन लोगो के समय का दुरुपयोग करेगे। किंतु पश्चिम मे अगर किसीका जाना फल सकता है तो सरोजिनीदेवी का या कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जाना अवश्य फल सकता है। सरोजिनीदेवी का नाम उनके काव्यो से पश्चिम मे प्रसिद्ध है। उनमे चतुराई भी वैसी ही है। उन्हे यह भली-भाति मालूम है कि कहां, क्या और कितना कहना चाहिए। किसीको दु ख पहुचाये बिना खरी-खरी सुना देने की कला उन्होने साधी है। जहा कही वह जाती है, उनकी बात सुने बिना लोगो का काम चलता ही नही है। दक्षिण अफ्रीका मे अपनी शक्ति का सपूर्ण उपयोग करके उन्होने वहा के अग्रेजो का मन हरण किया था और सुदर विजय प्राप्त करके सर हबीबुल्ला-प्रतिनिधि-मडल का रास्ता साफ किया था। वहा का काम कठिन था, किंतु वहापर उन्होने अपनी मर्यादा निश्चित करके कानून के जाल-पेचो मे न पडते हुए, मुख्य बात मे लगे रहकर अपना काम भली-भाति किया था और हिंदुस्तान का नाम चमकाया था। ऐसा ही काम वे अमेरिका आदि देशो मे भी करेगी।

---

[१] हिंदी नवजीवन, ८-१०-२५

अमेरिका मे उनकी हाजिरी ही मिस मेयो के असत्य का जवाब हो जायगी। उनका साहस भी उनकी दूसरी शक्तियो के ही समान है। परदेश जाने मे न तो उन्हे किसी सहायक की आवश्यकता रहती है और न किसी मत्री की ही। जहा कही जाना हो वह अकेले निर्भयता से विचर सकती है। उनकी ऐसी निर्भयता स्त्रियो के लिए तो अनुकरणीय है ही, पुरुषो को भी लजानेवाली है। हम अवश्य यह आशा रख सकते है कि उनकी पश्चिम की यात्रा मे से अच्छा फल निकलेगा।[1]

अमेरिका से कई-एक मित्रो के पत्र बराबर मेरे पास आते रहते है, जिनमे सरोजिनीदेवी के काम की प्रशसा रहती है। मित्र लिखते है कि सरोजिनीदेवी अमेरिका मे बडे महत्व का काम कर रही है और अपनी सारी ईश्वरदत्त प्रतिभा का इस देश के लिए पूरा-पूरा उपयोग कर रही है। इसमे शका नही कि उन्होने अमेरिकावासियो का मन मोह लिया है। कनाडा की एक बहन ने एक लबे पत्र मे अपने कुछ अनुभव लिखकर भेजे है, उसमे थोडी सी बाते नीचे देता हू

"सरोजिनी देवी थोडे समय के लिए मेरी मेहमान बनी थी। आपके उन मित्र और दूत से मिलकर मैंने अपने-आपको बडभागी पाया है। मै खुद एक स्त्री हू, वह भी स्त्री ही है। साथ ही वह तो कवि और सुधारक है, इसीलिए उन्होने मेरा हृदय और भी चुरा लिया है। उनकी आत्मा का मुझपर बहुत ज्यादा असर हुआ है और इतने दिन के बाद भी उन-के मिलाप की बात हमारे हृदय मे जैसी-की-तैसी बनी हुई है। जिस गिरजाघर मे सरोजिनीदेवी ने व्याख्यान दिया था वह तो श्रोताओ से खचाखच भर गया था। उनके ज्ञान की, उनके अनु-भवो की, उनकी काव्य-शक्ति की, उनके मधुर कोकिल कठ की, उनके विनोद की—और अग्रेजी भाषा पर उनके प्रभुत्व की मैं

---

[1] हिंदी नवजीवन, २०-९-२८

आपसे क्या बात कहू ? जैसे-जैसे उनकी वाणी का प्रवाह बढता गया, वैसे-वैसे लोग मारे आश्चर्य के चकित होते गये और आखिरकार उनके गुणो पर पूरे-पूरे मुग्ध हो गये। उन्होने हमारे सामने जितनी भी समस्याए रखी, हममें से कोई भी उनका उत्तर न दे सका। मेरे पास एक व्यवहार-कुशल व्यापारी बैठे हुए थे, उन्होने समाधिवत् होकर उनका सारा व्याख्यान सुना। जो प्रश्न पूछे गये सरोजिनीदेवी ने उनके ठीक-ठीक उत्तर दिये और बीच-बीच में जिस ढग से उन्होने विनोद का सहारा लिया उसे देखकर तो पूर्वोक्त व्यापारी महाशय से बोले बिना न रहा गया। उन्होने कहा, 'ऐसी शक्ति तो मैने किसी भी दूसरी स्त्री में नही देखी। अगर सच कहू, मेरी राय मे कोई भी पुरुष इनके मुकाबले मे खड़ा नही रह सकता।' वर्तमान भारत के विषय में उन्होने जो कुछ कहा, वह बहुत ज्यादा असर करनेवाला था। उन्होने हमारी न्याय-प्रियता को जागृत किया, हमारे हृदयो को पानी-पानी कर दिया और हमे उसी समय यह अनुभव होने लगा कि आपके वहा भी उसी तरह का राज्यतत्र होना चाहिए, जैसा हमारे यहा है। सरोजिनीदेवी की रचना मे, मालूम होता है, ईश्वर ने कई रग पूरे हैं। उनसे भोजन के समय मिलिये या सम्मेलनो में मिलिये, सामान्य वार्तालाप के लिए मिलिये अथवा और किसी काम के लिए, हर हालत मे उनकी प्रतिभा बिखरी पडती थी। उनके उत्साह का तो पार ही नही है। कई निमत्रणो को स्वीकार कर चुकी है, एक ही दिन मे कई जगह जाती है, लेकिन मालूम नही होता कि थकी हुई है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उनके पास शक्ति का कोई अटूट भडार है। लोकप्रियता से वह फूल नही उठती। यहा की सब अच्छी चीजे उन्हे पसद है। वह बच्चो को प्यार करती है, सुदर फूल उनका मन चुरा लेते है, हमारे वृक्ष, हमारे सरोवर और हमारी नदिया उन्हे आनद प्रदान करती है, फिर भी वह भविष्य को नही भूलती। यानी, स्त्री-जाति मे जो कमजोरिया रहती है और प्रशसा के कारण जिस तरह बहुधा स्त्रिया अपना आपा भूल

जाती है, उस तरह का भय मुझे सरोजिनीदेवी के बारे में नही है।"

मै नही समझता कि इन बहन ने जिन शब्दों में सरोजिनीदेवी की शक्ति का वर्णन किया है उनमे कोई बात बढ़ाकर लिखी गई है। सरोजिनीदेवी मे वस्तुस्थिति को पल भर में समझ लेने की अपूर्व शक्ति है। वह अपनी मर्यादा को समझती है। अर्थशास्त्रियो और राजनैतिक नेताओ की बारीकी मे वह कभी नही उतरती। इस तरह के ज्ञान का न तो वह कभी दावा करती है और न आडबर ही। साधारण आदमी के पास जितना ज्ञान होता है, उतने ही ज्ञान की पूजी से वह अपना काम इतनी चतुराई मे कर लेती है कि सामनेवाला आदमी उन्हे कभी उलझन मे डाल ही नही सकता। उलटे जो कुछ उनसे ग्रहण करता है उसीमे इतना सतोष अनुभव करता है, मानो उसे सबकुछ मिल गया हो।[1]

: १६ :

मोतीलाल नेहरू

महासभा का सभापतित्व अब फूलो का कोमल ताज नहीं रह गया है। फूल के दल तो दिनो-दिन गिरते जाते है और काटे उघडते जाते है। अब इस काटो के ताज को कौन धारण करेगा ? बाप या बेटा ? सैकडो लडाइयो के लडाका पडित मोतीलाल नेहरू इस काटो के ताज को पहनेगे या सयम-नियम के पक्के जवान सिपाही पडित जवाहरलाल नेहरू, जिन्होने अपनी योग्यता और महत्ता से देश के युवको के हृदयो पर अधिकार कर लिया है ? श्रीयुत वल्लभभाई पटेल का नाम स्वभावत ही सबकी जबान पर है। पडितजी एक व्यक्तिगत पत्र में लिखते है कि इस समय तो वल्लभभाई पटेल को ही, उनकी वीरता के लिए, सभापति चुनना चाहिए और सरकार को यह दिखला देना चाहिए कि उन

---

[1] हिंदी नवजीवन, २१-२-२९

पर सारे राष्ट्र का विश्वास है। खैर, मगर अभी तो श्री वल्लभभाई का कोई प्रश्न ही नही हो सकता। इस समय उनके पास काम भी इतना पडा हुआ है कि वह बारडोली छोडकर दूसरी ओर ध्यान ही नही दे सकते। और फिर दिसबर आने से पहले ही सभव है कि वह सरकार के अनेक वदीगृहो मे से किसी एक मे उसके अतिथि बनकर पहुच जाय। मेरा अपना विचार तो यह है कि यह काटो का ताज पडित जवाहरलाल नेहरू को ही मिलना चाहिए। भविष्य तो देश के युवको के ही हाथ मे होना चाहिए। मगर बगाल तो अगले साल, जबकि बहुत-से तूफानो का भय है, पडित मोतीलाल के ही हाथो महासभा की पतवार देना चाहता है। हम लोगो मे आपस मे फूट है और चारो ओर से हमे एक ऐसा शत्रु घेरे हुए है जो जितना शक्तिशाली है, उतना ही नीति-अनीति से लापरवाह भी। बगाल को इस समय किसी बडे-बूढे की विशेष आवश्यकता है और वह भी ऐसे आदमी की, जिसने उसके गाढे अवसर पर, उसे सभाला हो। अगर सारे हिदुस्तान के लिए आगे सुख का समय नही आने वाला है तो बगाल के लिए तो और भी नही। इसके तो हजारो कारण है कि पडित मोतीलालजी को ही क्यो यह काटो का ताज धारण करना चाहिए। वह वीर है, उदार है, उनपर सभी दलो का विश्वास है, मुसलमान उन्हे अपना मित्र मानते है, उनके विरोधी भी उनका आदर करते है और अपनी जोरदार दलीलो से वह उन्हे प्राय ही अपनी राय से सहमत कर लेते है और फिर इसके अलावा उनके स्वभाव मे सधि और समझौते की भावना की ऐसी पुट भरी हुई है, जिससे वह किसी ऐसे राष्ट्र के अत्यत योग्य दूत होने लायक है, जिसे सम्मानित समझौते की आवश्यकता है और जो उसे करने के लिए तैयार है। इन्ही बातो पर विचार करके, अत्यत साहसी बगाली देशभक्त पडित मोतीलाल नेहरू को ही अगले वर्ष के लिए राष्ट्र का कर्णधार बनाना चाहते है।[1]

---

[1] हिंदी नवजीवन, २६-७-२८

मै श्री मोतीलाल नेहरू इत्यादि की याद आपको दिला दूगा, जिन्होने अपनी कानूनी लियाकत विल्कुल मुफ्त बाटी और अपने देश की बडी अच्छी तथा विश्वस्त सेवा की। आप मुझे शायद ताना देगे कि वे लोग इस कारण ऐसा कर सके थे कि वे अपने व्यवसाय मे बडी लबी फीस लेते थे। मै इस तर्क को इस कारण नही मान सकता कि मनमोहन घोप के सिवा मेरा और सबसे परिचय रहा है। अधिक रुपया होने की वजह से इन लोगो ने भारत को आवश्यकता पडने पर अपनी योग्यता उदारतापूर्वक दी हो, ऐसा नही कहा जा सकता। उसका उनकी आराम तथा विलास मे रहने की योग्यता से कोई सबध नही है। मैने उनको बडे सतोप से दीनतापूर्वक जीवन-निर्वाह करते देखा है।[1]

... ...

स्वर्गीय मोतीलालजी के चित्र के उद्घाटन का जो सम्मान तुम लोगो ने मुझे दिया है, उसके लिए मै तुम्हारा आभारी हू। तुम्हारे पास उनकी छवि रहे और उनके पवित्र भावो को तुम सदा अपने हृदय मे अकित रखो, यह उचित ही है। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नही है कि जैसा सबध दो सगे-सहोदर भाइयो के बीच होता है, वैसा ही प्रगाढ प्रेम-सबध मोतीलालजी के और मेरे बीच था। मोतीलालजी की देश-सेवा, मोतीलालजी का त्याग, मोतीलालजी का अपने पुत्र-पुत्रियो के प्रति अनुपम प्रेम, इन सब बातो का परिचय जैसा मुझे था, लगभग वैसा ही तुम्हे भी होना चाहिए। जब से मुझे मोतीलालजी का प्रथम परिचय प्राप्त हुआ, तब से उनके जीवन के अतिम समय तक उनके निकट ससर्ग मे रहने का सद्भाग्य ईश्वर ने मुझे दिया था। मैने देखा कि वह प्रतिक्षण स्वदेशहित का ही चिनन करते थे। उनके लिए स्वराज्य स्वप्न नही, बल्कि प्राण था। स्वराज्य की उन्हे सदा तृष्णा-पिपासा

---

[1] हिंदी नवजीवन, १२-११-३१

रही और वह दिन-दिन बढती ही गई। ऐसे आदर्श देशभक्त का चित्र अपने सम्मुख रखना उचित ही है। .

पडित मोतीलालजी के सद्‌गुणो मे एक गुण यह भी था कि वह अस्पृश्यता नही मानते थे। वह मानो एक राजपुरुष थे। उन्होने तो बेहद रुपया कमाया, उसे सत्कार्यो मे, स्वराज्य के कार्यो मे लुटाया। मुझे उनके ऐसे दृष्टात मालूम है कि उनके हृदय में ऊच-नीच का भाव था ही नही।[1]

उस जमाने में हमने विदेशी कपडे के पहाड चिन-चिनकर जला दिये थे और कोई यह नही कहता था कि इससे राष्ट्र की निधि बरबाद हो रही है। श्रीमती नायडू ने अपनी पेरिस की साडी जला दी थी और स्व० मोतीलालजी ने भी अपने विलायती कपडो मे दियासलाई लगा दी थी। उनके पास तो आलमारी-की-आलमारिया विदेशी कपडे थे। इसके बाद जब वह जेल गये तब उन्होने मेरे पास एक खत भेजा था—आज वह खत मैं खोज नही सकता—पर उसमे था कि मै सच्चा जीवन अब ही जी रहा हू, आनद भवन मे मेरे पास जो समृद्धि थी उससे मुझे यह सुख नही मिलता था। वहा उन्हे सिगार, शराब, गोश्त कुछ नही मिलता था। पूरा भोजन भी नही मिलता था, फिर भी उसमे उन्हे सुख मालूम हुआ। यह सही है कि उनकी यह चीज हमेशा नही चली।[2]

मेरी हालत विधवा-स्त्री से भी बुरी है। एक विधवा अपने पति की मृत्यु के बाद वफादारी से जीवन बिताकर अपने पति के अच्छे कामो का फल पा सकती है। मै कुछ भी नही पा सकता। मोतीलालजी की मृत्यु से मैने जो खोया है, वह मेरा सदा के लिए नुकसान है।[3]

---

[1] हिंदी नवजीवन, २९-१२-२३

[2] प्रार्थना-प्रवचन, २०-६-४७

[3] 'कोई शिकायत नहीं', पृष्ठ ७३

मोतीलालजी की मृत्यु हरेक देश-भक्त के लिए ईर्ष्यास्पद होनी चाहिए, क्योकि अपना सबकुछ न्यौछावर करके वह मरे है और अत समय तक देश का ही ध्यान करते रहे है। इस वीर की मृत्यु से हमारे अदर भी बलिदान की भावना आनी चाहिए।[1]

: १७ :

वल्लभभाई पटेल

सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ रहना मेरा बडा सौभाग्य था। उनकी अनुपम वीरता से मै अच्छी तरह परिचित था, परतु पिछले १६ महीने मे जिस प्रकार रहा, वैसा सौभाग्य मुझे कभी नही मिला था। जिस प्रकार उन्होने मुझे स्नेह से ढक लिया, वह मुझे मेरी मा की याद दिलाता है। मै यह कभी नही जानता था कि उनमे मा के गुण भी है। बारदोली और खेडा के किसानो के लिए उनकी चिता मै कभी नही भूल सकता।[2]

• •

सरदार वल्लभभाई हंसी मे कहा करते थे कि उनके हाथ की रेखाओ मे जेल की रेखा नही है। उन लोगो के लिए जेल है ही नही, जिनके मन मे जेल महल के समान है और जो जेल और महल में कोई भेद नही समझते। जहा आज सरदार विराजे है, वहा हम सबको जाना है, पर बिना योग्यता प्राप्त किये जेल नहीं मिलती। सरदार वल्लभभाई की अमूल्य सेवाओ के हम पात्र थे या नही, इसे प्रमाणित करने का अवसर अब आ गया है। उन्हे गुजरात से आशा क्यो न हो ? उन्होने मजदूरो की सेवा मे कौन कमी रखी है ?

---

[1] ७ फरवरी को दिया गया सदेश

[2] 'महादेवभाई की डायरी'

डाकवालो और रेलवे के नौकरो ने उनके पास बैठकर स्वराज्य का पाठ कोन कम पढा है ? अहमदावाद का ऐसा कौन नागरिक है जो नही जानता कि उन्होने अपना सर्वस्व होम कर शहर की सेवा की है ? शहर मे जव भीपण महामारी फैली थी, उन दिनो गरीवो की सेवा का इतजाम करनेवाला कौन था ? वल्लभभाई। अकाल पडने पर अकाल-पीडितो की मदद के लिए दौड पडनेवाला कौन था ? वल्लभभाई। गुजरात मे ऐतिहासिक वाढ आई, लाखो लोग घरवार-विहीन वन गये, खेतो की फसल वह गई। उस समय सारे गुजरात का सकट टालने के लिए सैकडो स्वयसेवको को तैयार करनेवाला, लोगो के लिए एक करोड रुपये सरकार के खजाने से निकलवानेवाला कौन था ? वल्लभभाई ही। और वह भी वल्लभभाई ही थे, जिन्हे वारदोली की जीत के लिए ऋणी जनता ने सरदार कहकर पुकारा और जो सपूर्ण स्वराज्य की आखिरी लडाई के लिए जनता को तैयार कर रहे थे। वल्लभभाई तो अपने कर्तव्य का पालन करते हुए जेल पहुच गये। अव हमें क्या करना चाहिए ? इस सवाल का एक जवाव तो साफ ही है। हम हिम्मत न हारे, उलटे हममे से हरएक दुगुनी दृढता और दुगुनी हिम्मत के साथ सविनय-भग के लिए तैयार हो जाय और जेल की, या मौत मिले तो मौत की, राह पकड ले। सरदार के जाने के बाद अव रहनुमा कौन होगा ? इस तरह का नामर्दी से भरा हुआ सवाल कोई अपने मन मे न उठने दे। जिसे सविनय-भग करना है, उसके पास आज वहुतेरे साधन पडे हुए है और सरकार नये-नये साधन पैदा कर रही है। जैसे हमारे लिए यह जीवन-मरण का खेल है, वैसे ही सरकार के लिए भी है। मालूम होता है कि उसकी हस्ती का आधार ही स्वतत्र स्वभाव के मनुष्यो को दवाने पर है, नही तो वह वल्लभभाई के समान शाति, रक्षा के लिए प्रसिद्ध आदमी को क्यो पकडती ? [१]

---

[१] हिंदी नवजीवन, १३-३-३०

सरदार के लिए सब समान है, एक नन्हा बालक भी इसे जानता है। उन्हें तो गरीब-मात्र की सेवा करनी है। फिर भले ही वह भगी हो या ब्राह्मण, गुजराती हो या मद्रासी, राष्ट्र ने उनकी इस विशेषता को पहचाना और पहचानकर राष्ट्रपति बनाया।[1]

सरदार मेरे सगे भाई के समान है, तथापि इतना प्रमाण पत्र देते हुए मुझे जरा भी सकोच नही होता।[2]

वल्लभभाई अरबी घोडे की तेजी से दौड रहे है। सस्कृत की किताब हाथ से छूटती ही नही। इसकी मुझे आशा नही थी। लिफाफो मे तो कोई उनकी बराबरी नही कर सकता। लिफाफे वह नापे बिना बनाते है और अदाज से काटते है, मगर बराबर के निकलते है और फिर भी ऐसा नही लगता कि इसमे बहुत समय लगता है। उनकी व्यवस्था आश्चर्यजनक है। जो कुछ करना हो उसे याद रखने के लिए छोडते ही नही। जैसे आया वैसे ही कर डाला। कातना जब से शुरू किया है, तब से बराबर समय पर कातते है। इस तरह सूत मे और गति मे रोज सुधार होता जा रहा है। हाथ मे लिया हुआ भूल जाने की बात तो शायद ही होती है। और जहा इतनी व्यवस्था हो, वहा धाधली तो हो ही कैसे ?[3]

कई मुसलमान दोस्तो ने शिकायत की थी कि सरदार का रुख मुसलमानो के खिलाफ है। मैने कुछ दु ख से उनकी बात सुनी, मगर कोई सफाई पेश न की। उपवास शुरू होने के बाद मैने अपने ऊपर जो रोक-थाम लगाई हुई थी वह चली गई। इसलिए मैने टीकाकारो को कहा कि सरदार को मुझसे और पडित नेहरू से

---

[1] हिंदी नवजीवन, १४-५-३१

[2] 'विजयी बारदोली'

[3] महादेवभाई की डायरी, २८-८-३२

अलग करके और मुझे और पडित नेहरू को खामख्वाह आसमान पर चढाकर वे गलती करते है।

इससे उनको फायदा नही पहुच सकता। सरदार के वात करने के ढग में एक तरह का अक्खडपन है, जिससे कभी-कभी लोगो का दिल दुख जाता है, अगरचे सरदार का इरादा किसीको दु खी वनाने का नही होता। उनका दिल वहुत वडा है। उसमें सवके लिए जगह है। सो मैंने जो कहा, उसका मतलव यह था कि अपने जीवन भर के वफादार साथी को एक वेजा इलजाम से वरी कर दू। मुझे यह भी डर था कि सुननेवाले कही यह न समझ वैठे कि मैं सरदार को अपना 'जी हुजूर' मानता हू। सरदार को प्रेम से मेरा 'जी हुजूर' कहा जाता था। इसलिए मैंने सरदार की तारीफ करते समय कह दिया कि वह इतने शक्तिशाली और मन के मजवूत है कि वह किसीके 'जी हुजूर' हो ही नही सकते। जव वह मेरे 'जी हुजूर' कहलाते थे तव वह ऐसा कहने देते थे, क्योकि जो कुछ मैं कहता था वह अपने-आप उनके गले उतर जाता था। वे अपने क्षेत्र मे वहुत वडे थे। अहमदावाद म्युनिसिपैलिटी मे उन्होने शासन चलाने मे वहुत कावलियत वताई थी। मगर वह इतने नम्र थे कि उन्होने अपनी राजनैतिक तालीम मेरे नीचे शुरू की। उन्होने उसका कारण मुझे वताया था कि जव मै हिंदुस्तान मे आया था उन दिनो जिस तरह का राज-काज हिंदुस्तान मे चलता था, उसमें हिस्सा लेने का उन्हे मन नही होता था। मगर अव जव सत्ता उनके गले आ पडी तव उन्होने देखा कि जिस अहिंसा को वह आजतक सफलतापूर्वक चला सके अव वह नही चला सकते। मैने कहा है कि मै समझ गया हू कि जिस चीज को मै और मेरे साथी अहिसा कहा करते थे वह सच्ची अहिसा न थी। वह तो नकली चीज थी और उसका नाम है निष्क्रिय प्रतिरोध। हा, किनके हाथो मे निष्क्रिय प्रतिरोध किसी काम की चीज है? जरा सोचिये तो सही कि एक कमजोर आदमी जनता का प्रतिनिधि वने तो वह अपने मालिको की हँसी और वेइज्जती ही करवा सकता है। मै जानता

है कि सरदार कभी उन्हें सौंपी हुई जिम्मेदारी को दगा नही दे सकते। वे उसका पतन बर्दाश्त नही कर सकते।[1]

: १८ :

जमनालाल बजाज

सेठ जमनालाल बजाज को छीनकर काल ने हमारे बीच से एक शक्तिशाली व्यक्ति को छीन लिया है। जब-जब मैंने धनवानो के लिए यह लिखा कि वे लोककल्याण की दृष्टि मे अपने धन के ट्रस्टी बन जाय तब-तब मेरे सामने सदा ही इस वणिक् शिरोमणि का उदाहरण मुख्य रहा। अगर वह अपनी सपत्ति के आदर्श ट्रस्टी नही बन पाये तो इसमे दोष उनका नही था। मैंने जानबूझकर उनको रोका। मै नही चाहता था कि वे उत्साह में आकर ऐसा कोई काम कर ले, जिसके लिए बाद मे शात मन मे सोचने पर उन्हें पछताना पडे। उनकी सादगी तो उनकी अपनी ही चीज थी। अपने लिए उन्होने जितने भी घर बनाये, वे उनके घर नही रहे, धर्मशाला बन गये। सत्याग्रही के नाते उनका दान सर्वोत्तम रहा। राजनैतिक प्रश्नो की चर्चा मे वह अपनी राय दृढतापूर्वक व्यक्त करते थे। उनके निर्णय पक्के हुआ करते थे। त्याग की दृष्टि से उनका अतिम कार्य सर्वश्रेष्ठ रहा। वह किसी ऐसे रचनात्मक काम में लग जाना चाहते थे, जिसमे वह अपनी पूरी योग्यता के साथ अपने जीवन का शेष भाग तन्मय होकर बिता सके। देश के पशु-धन की रक्षा का काम उन्होने अपने लिए चुना था और गाय को उसका प्रतीक माना था। इस काम में वह इतनी एकाग्रता और लगन के साथ जुट गये थे कि जिसकी कोई मिसाल नही। उनकी उदारता मे जाति, धर्म या वर्ण की सकुचितता को कोई स्थान न था। वह एक ऐसी साधना मे लगे हुए थे, जो कामकाजी आदमी के

[1] प्रार्थना-प्रवचन, १५-१-४८

लिए विरल है। विचार-सयम उनकी एक वडी साधना थी। वह सदा ही अपनेको तस्कर विचारो से वचाने की कोशिश मे रहते थे। उनके अवसान से वसुधरा का एक रत्न कम,हो गया है। उनको खोकर देश ने अपना एक वीर-से-वीर सेवक खोया है। जिस कार्य के लिए उन्होने अपना शेष जीवन समर्पित कर दिया था, उसे अव उनकी विधवा जानकीदेवी ने स्वय करने का निश्चय किया है। उन्होने अपनी समस्त निजी सपत्ति को, जो करीव ढाई लाख के आस-पास है, कृष्णार्पण कर दिया है। ईश्वर उन्हे अपने इस अगीकृत कार्य मे सफल होने की शक्ति दे।[1]

•

मेरे साथ जमनालालजी का सवध करीव-करीव तभी से शुरू हुआ जव से मैने हिंदुस्तान के सार्वजनिक जीवन मे प्रवेश किया। उन्होने मेरे सभी कामो को पूरी तरह अपना लिया था, यहातक कि मुझे कुछ करना ही नही पडता था। ज्योही मै किसी नये काम को शुरू करता वह उसका वोझ खुद उठा लेते थे। इस तरह मुझे निश्चित कर देना मानो उनका जीवन-कार्य ही वन गया था।

११ फरवरी को जव मै जमनालालजी के द्वार पर पहुचा तो उनका देहात हो चुका था। मेरे पास वर्धा से सदेश तो सिर्फ यही आया था कि खून का दौरा कम करने की दवा भेजे। मै दवा भेजकर अपने दिल की तसल्ली कर सकता था। लेकिन उस दिन मैने महसूस किया कि नही, मुझे खुद ही जाना चाहिए। जव वहा पहुचा तो मामला कुछ और ही पाया।

जमनालालजी तो वडभागी थे। उनकी तरह हम भी अपने को वडभागी सावित कर सकते है, वशर्ते कि जो चीज उनके रहते हमे साफ नही दिखाई दी वह उनके वाद हमे साफ दिखाई देने लगे, जो जाग्रति हममे उनके जीवित रहते नही आई वह अव

---

[1] हरिजन सेवक, १५-२-४२

सब मे आ जाय।

उनका सबसे बडा काम गोसेवा का था। वैसे तो यह काम पहले भी चलता था, लेकिन धीमी चाल से। इसमे उन्हे सतोष न था। उन्होने इसे तीव्र गति से चलाना चाहा और इतनी तीव्रता से चलाया कि खुद ही चल बसे।

••

खादी के काम मे उनकी दिलचस्पी मुझसे कम न थी। खादी के लिए जितना समय मैने दिया उतना ही उन्होने भी दिया। उन्होने इस काम के पीछे मुझसे कम बुद्धि खर्च नही की थी। इस-लिए कार्यकर्त्ता भी वह ही ढूढ-ढूढकर मेरे पास लाया करते थे। थोडे मे यह कह लीजिय कि अगर मैने खादी का मत्र दिया तो जमनालालजी ने उसको मूर्त्त रूप दिया। खादी का काम कुछ होने के बाद मै तो जेल मे जा बैठा, मगर वह जानते थे कि मेरे नजदीक खादी ही मे स्वराज्य है। अगर उन्होने तुरत ही उसमे रत होकर उसे सगठित रूप न दिया होता तो मेरी गैरहाजिरी मे सारा काम तीन-तेरह हो जाता।

यही बात ग्रामोद्योग की थी। उन्होने इसके लिए मगनवाडी दी ही थी, साथ ही उसके सामने की कुछ जमीन भी वह मगनवाडी के लिए खरीदने का सकल्प कर चुके थे। अब चि० कमलनयन[1] ने वह जमीन भी मगनवाडी को दे दी है। ग्रामोद्योग का काम इतना व्यापक है कि इसमे अटूट रुपया खर्च किया जा सकता है।

••

एक बात और जमनालालजी कई बार कहा करते थे कि लोग और सब जगह तो खादी पहनकर चले जाते है, लेकिन बैक में नही जाते। अगर बैक मे वह अपनी मारवाडी पगडी पहनकर न जाय तो उनके खयाल मे इसमे उनकी प्रतिष्ठा की हानि होती है। मगर खुद जमनालालजी ने कभी इसकी कोई चर्चा नही की।

---

[1] जमनालालजी के ज्येष्ठ पुत्र

फिर उसका नतीजा कुछ भी क्यो न हुआ हो ! अत मै यह चाहता हूं कि हममे इतनी स्वतत्रता और इतना आत्म-गौरव पैदा हो जाना चाहिए कि हम अपनी खादी की पोशाक मे हर जगह विना झिझक के जा सके ।

अवतक इस देश की आजादी को खोने मे व्यापारी-समाज की खास जिम्मेदारी रही है। जमनालालजी को यह चीज वरावर खटका करती थी ।

जमनालालजी के दूसरे काम आखो के सामने ही है। महिला-आश्रम को ही लीजिये। यह उनकी अपनी एक विशेष कृति है। उन्हीकी कल्पना के अनुसार यह अवतक काम करता रहा है। जमनालालजी के सामने सवाल यह था कि जो लोग देश के काम मे जुटकर भिखारी बन जाते है, उनके वाल-वच्चो की शिक्षा का क्या प्रवध हो ? उन्होने कहा कि कम-से-कम उनकी लडकियो को सरकारी मदरसो के मुकावले मे अच्छी ही तालीम मिल सकेगी। वस, इसी खयाल से महिला-आश्रम की स्थापना हुई। आज इस आश्रम के लिए एक त्यागी और सुशिक्षित महिला की आवश्यकता है। आप इस आवश्यकता की पूर्ति मे सहायक हो सकते है। वुनियादी तालीम और हरिजन-सेवक-सघ के काम का भी यही हाल है। आप इनमे शरीक हो सकते है। हिंदू-मुस्लिम-एकता के लिए उनके दिल में खास लगन थी। उनके अदर साप्र-दायिक द्वेष की बू तक न थी। आप उनके जीवन से इस गुण को ग्रहण कर सकते है।

जमनालालजी का स्मृति-स्तभ खडा करके हम उनकी याद को चिरस्थायी नही वना सकते। स्तभ पर खुदे हुए शिला-लेख को तो लोग पढकर थोडे ही समय मे भूल जायगे, परतु जिस आदमी ने दुनिया के लिए इतना कुछ किया है उसके काम को चिर-स्थायी रखने का सकल्प कोई कर ले तो वह उनका सच्चा स्मारक हो रहेगा। किंतु इसके लिए मै जवरदस्ती नही करना चाहता। जिसे जो कुछ भी करना हो आत्मोन्नति के लिए करे। अगर

दिखावे के लिए कुछ भी होगा तो उससे मुझे और जमनालालजी की आत्मा को उल्टा कष्ट ही होगा ।[1]

... .

जमनालाल का शरीर मर गया, पर असल जमनालाल तो जिंदा ही है और आगे के लिए उसे जिंदा रखना हमारा काम है ।[2]

: १९ :

सुभाषचंद्र बोस

नेताजी के जीवन से जो सबसे बडी शिक्षा ली जा सकती है वह है उनकी अपने अनुयायियो मे ऐक्यभावना की प्रेरणाविधि, जिसमे कि वे सब साप्रदायिक तथा प्रातीय बधनो से मुक्त रह सके और एक समान उद्देश्य के लिए अपना रक्त बहा सके । उनकी अनुपम सफलता उन्हे निस्सदेह इतिहास के पन्नो मे अमर रखेगी ।

नेताजी के प्रत्येक अनुगामी ने, जो भारत लौटने पर मुझसे मिले, निर्विवाद रूप से यह कहा कि नेताजी का प्रभाव उनपर जादू-सा हुआ करता था और वे उनके अधीन एकमात्र भारत की आजादी प्राप्त करने के उद्देश्य मे काम करते थे । उनके दिलो में साप्रदायिक और प्रातीय या और कोई भी भेदभाव कभी भी अकुरित नही हुआ था ।

नेताजी एक महान् गुणवान पुरुष थे । वह व्युत्पन्नमति और प्रतिभा-सपन्न थे । उन्होंने आई०सी०एस० की परीक्षा उत्तीर्ण की, किंतु नौकरी नही की । भारत लौटने पर वह देशबधुदास से प्रभावित हुए और कलकत्ता कारपोरेशन के मुख्य एक्जीक्यूटिव आफिसर नियुक्त हुए । बाद मे वह राष्ट्रीय महासभा के भी दो बार राष्ट्रपति बने, परतु उनकी उल्लेखनीय सफलताओ मे, भारत

---

[1] सेवाग्राम, २८-२-४२

[2] जमनालालजी, पृष्ठ १०

से वाहर के, उस समय के कार्य है, जब वह देश से भागे और कावुल, इटली, जर्मनी और अन्य देशो से होकर अत मे जापान पहुचे। विदेशी चाहे कुछ भी कहे, पर मै विश्वास के साथ यह अवश्य कहूगा कि आज भारत मे एक भी ऐसा आदमी नही है जो उनके इस प्रकार भागने को अपराध मानता है। 'समरथ को नही दोष गुसाई'—सत तुलसीदास के इस कथन के अनुसार नेताजी पर भागने का दोष नही लगाया जा सकता। जब सर्वप्रथम उन्होने सेना तैयार की तो उसकी तुच्छ सख्या की उन्होने कोई चिता नही की। उनका निश्चय था कि सख्या चाहे कितनी ही कम क्यो न हो, पर भारत को आजाद कराने के लिए उन्हे सामर्थ्य भर यत्न करना ही चाहिए।

नेताजी का सबसे महान् और स्थिर रहनेवाला कार्य था सब प्रकार के जातीय और वर्ग-भेद का उन्मूलन। वह केवल बगाली ही नही थे। उन्होने अपने आपको कभी सवर्ण हिदू नही समझा। वह आमूलचूल भारतीय थे। इससे अधिक क्या कि उन्होने अपने अनुगामियो मे भी यही आग प्रज्वलित की, जिससे प्रेरित होकर वे उनकी उपस्थिति मे सभी भेदभाव भूल गये थे और एक-सूत्र होकर काम करते थे।[1]

एक बात और। वह यह कि जो आज़ाद हिद फौज सुभाष-बाबू ने बनाई थी और उसके लिए हम सब सुभाषबाबू की होशि-यारी, बहादुरी की तारीफ करते है और तारीफ करने की बात है, क्योकि जब वह हिदुस्तान से बाहर था तब उसने सोचा कि चलो, थोडा फौजी काम भी कर लू। वह कोई लडवैया तो था नही। एक मामूली हिदुस्तानी था। जैसे दूसरे वकील, बैरिस्टर रहते है वैसे सुभाषबाबू भी थे। फौज की कोई तालीम तो पाई नही थी। हा, सिविल सर्विस मे जैसा आमतौर पर होता है, थोडी घुडसवारी

---

[1] 'नेताजी, हिज लाइफ एण्ड वर्क'

सीख ली होगी। लेकिन पीछे उन्होने फौजी-शास्त्र थोडा पढ लिया होगा। इस प्रकार उनके मातहत जो सेना बनी थी, मै सुनता हू कि उसके दो बडे अफसर, जिनसे मै जेल मे तथा उसके बाहर भी मिला था, काश्मीर पर हमला करनेवालो से मिले हुए है। यह मुझको बहुत चुभता है। ये सुभाषबाबू के मातहत खास काम करनेवाले थे और हमेशा उनके साथ रहा करते थे। सुभाषबाबू लश्कर मे कोई बात छिपाकर रख तो सकते नही थे, क्योकि उन्हे उनके मारफत काम लेना पडता था। वे आज लुटेरो के सरदार होकर आते है तो मुझको चुभता है। अगर उनको अखबार मिलते है या जो मै कहता हू उसको वे सुन ले तो मै अपनी यह नाकिस आवाज उनको पहुचाता हू कि आप इसमें क्यो पडते है और सुभाषबाबू के नाम को क्यो डुबाते है? आप ऐसा क्यो करते है कि हिंदू का पक्ष ले या मुसलमान का पक्ष ले? आपको तो जाति-भेद करना नही चाहिए। सुभाषबाबू तो ऐसे थे नही। उनके साथ हिंदू, मुसलमान, सिख, पारसी, ईसाई, हरिजन आदि सब रहते थे। वहा न हरिजन का भेद था, न इतरजन का। वहा तो हिंदुस्तानियो मे जात-पात का कोई भेदभाव था ही नही। यो तो सब अपने धर्म पर कायम थे, कोई धर्म तो छोड बैठे थे नही। लेकिन सुभाषबाबू ने कब्जा कर लिया था, उनके चित्त का हरण कर लिया था, शरीर का हरण नही किया था। ऐसा तो चलता नही था कि अगर आजाद हिंद फौज मे शामिल नही होना है तो काटो। लोगो को इस तरह काटकर वह हिंदुस्तान को रिहाई दिलाने वाले नही थे। इस तरह से बडे हुए और बडप्पन पाया। तब आप इतने छोटे क्यो बनते है और इस छोटे काम मे क्यो पडते है? अगर कुछ करना ही है तो सारे हिंदुस्तान के लिए करो। वहा जो मुसलमान है, अफरीदी है, उनको कहे कि यह जाहिलपन क्यो करना? लोगो को लूटना और देहातो को जलाना क्या? चलो, महाराजा से मिले, शेख अब्दुल्ला से मिले, उनको चिट्ठी लिखें कि हम आपसे मिलना चाहते है, हम यहा कोई लूट करने

तो आये नहीं हैं। आप इस्लाम को दबाते हैं, इसलिए आपको बताने आये हैं। यह तो मैं समझ सकता हूं। तब तो आप सुभाषबाबू का नाम उज्ज्वल करेंगे और उन अफरीदी लोगों के सच्चे शिक्षक बनेंगे। अफरीदी लोग कैसे रहते हैं, उनमें भी लुटेरे हैं या नहीं है, यह मैं नहीं जानता हूं। लेकिन मेरी निगाह में वे भी इन्सान हैं। उनके दिल में भी वही ईश्वर या खुदा है, इसलिए वे सब मेरे भाई हैं। अगर मैं उनमें रहूं तो उनसे कहूंगा कि लूट क्या करना, एक-दूसरे पर गुस्सा क्या करना! मैं यह तो कहता नहीं कि तुम्हारे पास जो बंदूकें या तलवारें हैं, उन्हें छोड दो। उनको रखो, लेकिन जो दूसरे लोग डरे हुए हैं, मुफलिस हैं, औरतें हैं, बच्चे हैं, उनको बचाने के लिए। उसमें क्या है, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान। तो मैं कहूंगा कि ये जो दो अफसर हैं, जिनका नाम मैंने सुन लिया है, वे सुभाषबाबू का नाम याद करें। वे तो मर गये, लेकिन उनका नाम नहीं मरा, काम तो नहीं मरा।[१]

. . . .

आज सुभाषबाबू की जन्म-तिथि है। मैंने कह दिया है कि मैं तो किसीकी जन्म-तिथि या मृत्यु-तिथि याद नहीं रखता। वह आदत मेरी नहीं है। सुभाषबाबू की तिथि की मुझे याद दिलाई गई। उससे मैं राजी हुआ। उसका भी एक खास कारण है। वह हिंसा के पुजारी थे। मैं अहिंसा का पुजारी हूं। पर इसमें क्या? मेरे पास गुण की ही कीमत है। तुलसीदासजी ने कहा है न,

"जड-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतार।
संत-हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार॥"

हंस जैसे पानी को छोडकर दूध ले लेता है, वैसे ही हमें भी करना चाहिए। मनुष्य-मात्र में गुण और दोष दोनों भरे पडे हैं। हमें गुणों को ग्रहण करना चाहिए। दोषों को भूल जाना चाहिए। सुभाषबाबू बडे देश-प्रेमी थे। उन्होंने देश के लिए अपनी जान

---

[१] प्रार्थना-प्रवचन, २-११-४७

की बाजी लगा दी थी और वह करके भी बता दिया। वह सेना-पति बने। उनकी फौज मे हिंदू, मुसलमान, पारसी, सिख सब थे। सब बगाली ही थे, ऐसा भी नही था। उनमे न प्रातीयता थी, न रग-भेद, न जाति-भेद। वह सेनापति थे, इसलिए उन्हे ज्यादा सहूलियत लेनी या देनी चाहिए, ऐसा भी नही था।[1]

. २० .

मदनमोहन मालवीय

जब से १९१५ मे हिंदुस्तान आया तब से मेरा मालवीयजी के साथ बहुत समागम है और मै उन्हें अच्छी तरह जानता हू। मेरा उनके साथ गहरा परिचय रहता है। उन्हें मै हिंदू-ससार के श्रेष्ठ व्यक्तियो मे मानता हू। कट्टर और पुराने खयालात के होते हुए भी बडे उदार विचार रखते है। उनका किसीसे ईर्ष्या रखना असभव है। उनकी उदारता ऐसी है कि उसमे उनके दुश्मनो के लिए भी जगह है। कभी उन्हें शासन की चाह न रही और जो शासन आज उनके पास है वह उनकी मातृभूमि की आज तक की लबी और अखड सेवा का फल है। ऐसी सेवा का दावा हममे से बहुत कम लोग कर सकते है। उनकी और मेरी विशेषता अलग-अलग है, लेकिन हम दोनो एक दूसरे को सगे भाई-सा प्यार करते है। मेरे और उनके बीच कभी जरा भी विगाड नही हुआ। हमारे रास्ते जुदे-जुदे है। इसलिए हमारे बीच स्पर्धा और डाह का सवाल पैदा ही नही हो सकता।[2]

आशावाद और भोलेपन में मै भेद करता हू। पडितजी

---

[1] प्रार्थना-प्रवचन २३-१-४८,

[2] हिंदी नवजीवन १-६-२४,

मे दोनो है। दृष्टिमर्यादा पर निराशा के चिन्ह होते हुए भी और जानते हुए भी जो आशा रखता है वह आशावादी है। यह गुण पडितजी मे काफी मात्रा मे है। आशा की बाते कोई कह दे और उसपर विश्वास लाना वह भोलापन है। यह भी पडितजी मे है। उसे मै त्याज्य समझता हू। पडितजी महान व्यक्ति है, इसलिए उनको ऐसे भोलेपन से हानि नही हुई है। हमे ऐसे भोलेपन का अनुकरण कभी नही करना चाहिए। आशावाद अतर्नाद पर निर्भर है, भोलापन बाह्य बातो पर।[1]

देश के सार्वजनिक जीवन को उनकी बहुत बडी देन है। उनका सबसे बडा कार्य हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस है। इस विद्यालय के प्रेम से हमे हार्दिक प्रेम है। महामना मालवीयजी ने उसके लिए जब कभी मेरी सेवाए चाही है, मैने दी है।

मालवीयजी महाराज के साथ मेरा कितना गाढ सबध है। अगर उनका कोई काम मुझसे हो सकता है तो मुझे उसका अभिमान रहता है और अगर मै उसे कर सकू तो अपनेको कृतार्थ समझता हू। यहा आना मेरे लिए तो एक तीर्थ मे आने के समान है।

यह विश्वविद्यालय मालवीयजी महाराज का सबसे बडा और प्राण-प्रिय कार्य है। उन्होने हिदुस्तान की बहुत-बहुत सेवाए की है, इससे आज कोई इकार नही कर सकता। लेकिन मेरा अपना खयाल यह है कि उनके महान् कार्यो मे इस कार्य का महत्व सबसे ज्यादा रहेगा। २५ साल पहले, जब इस विश्वविद्यालय की नीव डाली गई थी, तब भी मालवीयजी महाराज के आग्रह और खिचाव से मै यहा आ पहुचा था। उस समय तो मै यह सोच भी न सकता था कि जहा बडे-बडे राजा-महाराजा और खुद वाइसराय आनेवाले है, वहा मुझ-जैसे फकीर की क्या जरूरत हो सकती है। तब तो मै 'महात्मा' भी नही बना था।

---

[1] महादेवभाई की डायरी, २७-५-३२

उस समय भी मालवीयजी महाराज की कृपा-दृष्टि मुझपर थी। कहीं भी कोई सेवक हो, वह उसे ढूंढ निकालते हैं और किसी-न-किसी तरह अपने पास खींच ही लाते हैं। यह उनका सदा का धंधा है।

लोग मालवीयजी महाराज की बड़ी प्रशंसा करते हैं। वह सब तरह उसके लायक हैं। मैं जानता हूं कि हिंदू विश्वविद्यालय का कितना बड़ा विस्तार है। संसार में मालवीयजी से बढ़कर कोई भिक्षुक नहीं। जो काम उनके सामने आ जाता है, उसके लिए—अपने लिए नहीं—उनकी भिक्षा की झोली का मुंह हमेशा खुला रहता है। वह हमेशा मांगा ही करते हैं, और परमात्मा की भी उनपर बड़ी दया है कि जहां जाते हैं, उन्हें पैसे मिल ही जाते हैं, तिसपर भी उनकी भूख कभी नहीं बुझती। उनका भिक्षापात्र सदा खाली रहता है। उन्होंने विश्वविद्यालय के लिए एक करोड़ इकट्ठा करने की प्रतिज्ञा की थी। एक करोड़ की जगह डेढ़ करोड़ दस लाख रुपया इकट्ठा हो गया, मगर उनका पेट नहीं भरा। अभी-अभी उन्होंने मुझसे कान में कहा है कि आज के हमारे सभापति महाराज साहब दरभंगा ने उनको एक खासी बड़ी रकम दान में और दी है।

मैं जानता हूं कि मालवीयजी महाराज स्वयं किस तरह रहते हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि उनके जीवन का कोई पहलू मुझसे छिपा नहीं। उनकी सादगी, उनकी सरलता, उनकी पवित्रता और उनके प्रेम से मैं भली-भांति परिचित हूं। उनके इन गुणों में से आप जितना कुछ ले सकें, जरूर लें। विद्यार्थियों के लिए तो उनके जीवन की बहुतेरी बातें सीखने लायक हैं। मगर मुझे डर है कि उन्होंने, जितना सीखना चाहिए, सीखा नहीं है। यह आपका और हमारा दुर्भाग्य है। इसमें उनका कोई कसूर नहीं। धूप में रहकर भी कोई सूरज का तेज न पा सके तो उसमें सूरज बेचारे का क्या दोष? वह तो अपनी तरफ से सबको गर्मी पहुंचाता रहता है, पर अगर कोई उसे लेना ही न चाहे और ठंड में रहकर

ठिठुरता फिरे तो सूरज भी उसके लिए क्या करे? मालवीयजी महाराज के इतने निकट रहकर भी अगर आप उनके जीवन से सादगी, त्याग, देशभक्ति, उदारता और विश्वव्यापी प्रेम आदि सद्गुणो का अपने जीवन मे अनुकरण न कर सके तो कहिये, आप से वढकर अभागा और कौन होगा?[1]

अंग्रेजी मे एक कहावत है—'राजा गया, राजा हमेशा जियो!' ठीक यही भारत-भूषण मालवीयजी महाराज के लिए कहा जा सकता है—"मालवीयजी गये, मालवीयजी अमर हो!" मालवीयजी हिंदुस्तान के लिए पैदा हुए और हिंदुस्तान के लिए किये गये अपने कामो मे जीते है। उनके काम वहुत है। वहुत वडे है। उनमे सवसे वडा हिंदू-विश्वविद्यालय है। गलती से उसे हम वनारस हिंदू युनिवर्सिटी के नाम से पहचानते है। उस नाम के लिए दोप मालवीयजी महाराज का नही, उनके पैरोकारो का रहा है। मालवीयजी महाराज दासानुदास थे। दास लोग जैसा करते थे, वैसा वह करने देते थे। मुझे पता है कि यह अनुकूलता उनके स्वभाव मे भरी थी, यहातक कि वाज दफा वह दोप का रूप लेलेती थी, लेकिन 'समरथ को नहि दोप गुसाई' वाली वात मालवीयजी महाराज के वारे मे भी कही जा सकती है। उनका प्रिय नाम तो हिंदू विश्व-विद्यालय ही था और यह सुधार तो अव भी करने योग्य है। इस विश्वविद्यालय का हरेक पत्थर शुद्ध हिंदू-धर्म का प्रतिविव होना चाहिए। एक भी मकान पश्चिम के जडवाद की निशानी न हो, वल्कि अध्यात्म की निशानी हो। और जैसे मकान हो, वैसे ही शिक्षक और विद्यार्थी भी हो। आज है? प्रत्येक विद्यार्थी शुद्ध धर्म की जीवित प्रतिमा है? नही है. तो, क्यो नही है? इस विश्वविद्यालय की परीक्षा विद्यार्थियो की सख्या से नही, वल्कि उनके हिंदू-धर्म की प्रतिमा होने से ही हो सकती है, फिर भले वे थोडे ही क्यो न हो।

---

[1] हरिजन सेवक, २१-१-४२

मै जानता हू कि यह काम कठिन है, लेकिन यही इस विद्यालय की जड है। अगर यह ऐसा नही है, तो कुछ नही है। इसलिए स्वर्गीय मालवीयजी के पुत्रो का और उनके अनुयायियो का धर्म स्पष्ट है। जगत मे हिंदू-धर्म का क्या स्थान है? उसमे आज क्या दोष है? वे कैसे दूर किये जा सकते है? मालवीयजी महाराज के भक्तो का कर्त्तव्य है कि वे इन प्रश्नो को हल करे। मालवीयजी अपनी स्मृति छोड गये है। उसको स्थायी रूप देना, उसका विकास करना, उनका श्रेष्ठ स्मृति-स्तभ होगा।

विश्वविद्यालय के लिए स्व० मालवीयजी ने काफी द्रव्य इकट्ठा किया था, लेकिन बाकी भी काफी रहा है। इस काम मे तो हरेक आदमी हाथ बटा सकता है।

यह तो हुई उनकी बाह्य प्रवृत्ति। उनका आतरिक जीवन विशुद्ध था। वह दया के भडार थे। उनका शास्त्रीय ज्ञान बडा था। भागवत उनकी प्रिय पुस्तक थी। वह सजग कथाकार थे। उनकी स्मरण-शक्ति तेजस्विनी थी। जीवन शुद्ध था, सादा था।

उनकी राजनीति को और दूसरी अनेक प्रवृत्तियो को छोड देता हू। जिन्होने अपना सारा जीवन सेवा के लिए अर्पित किया था और जो अनेक विभूतिया रखते थे, उनकी प्रवृत्ति की मर्यादा हो नही सकती। मैने तो उनमे से चिरस्थायी चीजे ही देने का सकल्प किया था। जो लोग विश्वविद्यालय को शुद्ध बनाने मे मदद देना चाहते है, वे मालवीयजी महाराज के अतर्जीवन के मनन और अनुसरण करने की कोशिश करे।[1]

: २१ :

श्रीमद् राजचंद्रभाई

मै जिनके पवित्र सस्मरण लिखना आरभ करता हू,

[1] हरिजन सेवक, ८-१२-४६

उन स्वर्गीय राजचंद्र की आज जन्मतिथि है। कार्तिक पूर्णिमा संवत् १९७९ को उनका जन्म हुआ था।

मेरे जीवन पर श्रीमद्राजचंद्र भाई का ऐसा स्थायी प्रभाव पड़ा है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। उनके विषय में मेरे गहरे विचार हैं। मैं कितने ही वर्षों से भारत में धार्मिक पुरुषों की शोध में हूं, परन्तु मैंने ऐसा धार्मिक पुरुष भारत में अबतक नहीं देखा, जो श्रीमद् राजचंद्रभाई के साथ प्रतिस्पर्धा कर सके। उनमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति थी, ढोंग, पक्षपात या राग-द्वेष न थे। उनमें एक ऐसी महान् शक्ति थी, जिसके द्वारा वह प्राप्त हुए प्रसंग का पूर्ण लाभ उठा सकते थे। उनके लेख अंग्रेज तत्व-ज्ञानियों की अपेक्षा भी विलक्षण, भावनामय और आत्मदर्शी हैं। यूरोप के तत्व-ज्ञानियों में मैं टाल्स्टाय को पहली श्रेणी का और रस्किन को दूसरी श्रेणी का विद्वान् समझता हूं, परंतु श्रीमद् राजचंद्रभाई का अनुभव इन दोनों से भी बढ़ा-चढ़ा था। इन महापुरुषों के जीवन के लेखों को अवकाश के समय पढ़ेंगे तो आप पर उनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा। वह प्रायः कहा करते थे कि मैं किसी बाड़े का नहीं हूं और न किसी बाड़े में रहना ही चाहता हूं। यह सब तो उपधर्म —मर्यादित—है और धर्म तो असीम है कि जिसकी व्याख्या हो ही नहीं सकती। वह अपने जवाहरात के धंधे से विरक्त होते कि तुरंत पुस्तक हाथ में लेते। यदि उनकी इच्छा होती तो उनमें ऐसी शक्ति थी कि वहीं एक अच्छे प्रतिभाशाली बैरिस्टर, जज या वाइसराय हो सकते थे। यह अतिशयोक्ति नहीं, किंतु मेरे मन पर उनकी छाप है। इनकी विचक्षणता दूसरे पर अपनी छाप लगा देती थी।

जिनका पुण्य-स्मरण करने के लिए हम लोग आये हुए हैं, उनके हम लोग पुजारी हैं। मैं भी उनका पुजारी हूं।

वह दयाधर्म की मूर्ति थे। उन्होंने दयाधर्म समझा था और उसे अपने जीवन में उतारा था। मैंने यह बहुत बार कहा और लिखा है कि मैंने अपने जीवन में बहुतों से बहुत-कुछ ग्रहण किया है। पर

सबसे अधिक यदि मैने किसीके जीवन मे से ग्रहण किया हो तो वह कविश्री (श्रीमद्राजचद्र) के जीवन मे मे ग्रहण किया है। दया-धर्म भी मैने उन्हीके जीवन मे से सीखा है।

बहुत-से प्रसगो मे तो हमे जड होकर वैसी ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। शुद्ध जड और चैतन्य मे भेद नही के बराबर है। सारा जगत जड रूप ही दीख पडता है। आत्मा तो कभी क्वचित् ही प्रकाशित होता है। ऐसा व्यवहार अलौकिक पुरुषो का होता है और यह मैने देखा है कि ऐसा व्यवहार श्रीमद्राजचद्रभाई का था।

वह बहुत बार कहा करते थे कि मेरे शरीर मे चारो ओर से कोई बरछी भोक दे तो मै उसे सह सकता हू, पर जगत मे जो झूठ, पाखड, अत्याचार चल रहा है, धर्म के नाम से जो अधर्म हो रहा है उसकी बरछी मुझसे सही नही जाती। अत्याचारो मे उन्हे अकुलाते मैने बहुत बार देखा है। वह सारे जगत को अपने कुटुब के जैसा समझते थे। अपने भाई या बहन की मौत से जितना दुःख हमे होता है उतना ही दुख उन्हे ससार मे दुःख और मृत्यु देखकर होता था।

राजचद्रभाई का शरीर जो इतनी छोटी उम्र मे छूट गया, इसका कारण भी मुझे यही जान पडता है। यह ठीक है कि उनके शरीर मे दर्द घर किये हुए था, पर जगत के ताप का जो दर्द उन्हे था, वह उनके लिए असह्य था। उनके देह मे केवल शारीरिक दर्द ही होता तो उसे उन्होने अवश्य जीत लिया होता पर उन्हे तो जान पडा कि ऐसे विषम काल मे आत्म-दर्शन कैसे हो सकता है। यह दया-धर्म की निशानी है।[1]

श्रीमद्राजचद्र को मै 'रायचद्रभाई' अथवा 'कवि' कहकर प्रेम और मानपूर्वक सबोधन करता था। उनके सस्मरण लिखकर उनका रहस्य मुमुक्षुओ के समक्ष रखना मुझे अच्छा लगता है।

[1] राजचद्र-जयती, अहमदाबाद में सभापति-पद से दिया गया भाषण

मुमुक्षु शब्द का मैने यहा जान-बूझकर प्रयोग किया है। सब प्रकार के पाठको के लिए यह प्रयास नही।

मेरे ऊपर तीन पुरुषो ने गहरी छाप डाली है टाल्स्टाय, रस्किन और रायचद्रभाई। टाल्स्टाय ने अपनी पुस्तको द्वारा और उनके साथ थोडे पत्र-व्यवहार से, रस्किन ने अपनी एक ही पुस्तक 'अनटु दिस लास्ट' से, जिसका गुजराती नाम मैने 'सर्वोदय' रखा है और रायचद्रभाई ने अपने साथ गाढ परिचय से। जब मुझे हिंदू-धर्म मे शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करने मे मदद करनेवाले रायचंद्रभाई थे। सन् १८९३ मे दक्षिण अफ्रीका मे मै क्रिश्चियन सज्जनो के विशेप सपर्क मे आया। उनका जीवन स्वच्छ था। वे चुस्त धर्मात्मा थे। अन्य धर्मियो को क्रिश्चियन होने के लिए समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था। यद्यपि मेरा और उनका सबध व्यावहारिक कार्य को लेकर ही हुआ था तो भी उन्होने मेरी आत्मा के कल्याण के लिए चिंता करना शुरू कर दिया। उस समय मै अपना एक ही कर्त्तव्य समझ सका कि जबतक मै हिंदू-धर्म के रहस्य को पूरी तौर से न जान लू और उससे मेरी आत्मा को सतोप न हो जाय तबतक मुझे अपना कुलधर्म कभी न छोडना चाहिए। इसलिए मैने हिंदू-धर्म और अन्य धर्मो की पुस्तके पढना शुरू कर दी। क्रिश्चियन और मुसल-मानी पुस्तके पढी। विलायत के अग्रेज मित्रो के साथ पत्र-व्यवहार किया। उनके समक्ष अपनी शकाए रखी तथा हिंदुस्तान मे जिन के ऊपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी पत्र-व्यवहार किया। उनमे रायचद्र भाई मुख्य थे। उनके साथ तो मेरा अच्छा सबध हो चुका था। उनके प्रति मान भी था। इसलिए जो मिल सके उनसे लेने का मैंने विचार किया। उसका फल यह हुआ कि मुझे शाति मिली। हिंदू-धर्म मे मुझे जो चाहिए वह मिल सकता है, ऐसा मन को विश्वास हुआ। मेरी इस स्थिति के जवाबदार रायचद्रभाई हुए। इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिए, इसका पाठक कुछ अनुमान कर सकते है।

इतना होने पर भी मैंने उन्हे धर्मगुरु नही माना। धर्मगुरु की तो मै खोज किया ही करता हू। और अबतक मुझे सबके विषय में यही जवाब मिला है कि ये नही। ऐसा सपूर्ण गुरु प्राप्त करने के लिए तो अधिकार चाहिए। वह मै कहा से लाऊ ?

रायचद्रभाई के साथ मेरी भेट जुलाई सन् १८९१ मे उस दिन हुई जब मैं विलायत से बबई वापस आया। इन दिनो समुद्र मे तूफान आया करता है, इस कारण जहाज रात को देरी से पहुचा। मै डाक्टर—बैरिस्टर—और अब रगून के प्रख्यात झवेरी प्राण-जीवनदास मेहता के घर उतरा था। रायचद्रभाई उनके बडे भाई के जमाई होते थे। डाक्टरसाहब ने ही परिचय कराया। उनके दूसरे बडे भाई झवेरी रेवाशकर जगजीवनदास की पहचान भी उसी दिन हुई। डाक्टरसाहब ने रायचद्रभाई का 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा, "कवि होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापार मे है। आप ज्ञानी और शतावधानी है।" किसीने सूचना की कि मै उन्हे कुछ शब्द सुनाऊ और वे शब्द चाहे किसी भी भाषा क हो, जिस क्रम से मै बोलूगा उसी क्रम से वे दुहरा जावेगे। मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ। मै तो उस समय विलायत से लौटा था। मुझे भाषा-ज्ञान का भी अभिमान था। मुझे विलायत की हवा भी कुछ कम न लगी थी। उन दिनो विलायत से आया मानो आ-काश से उतरा। मैने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया। और अलग-अलग भाषाओ के शब्द पहले तो मैने लिख लिये, क्योंकि मुझे वह क्रम कहा याद रहनेवाला था और बाद मे उन शब्दो को मै बाच गया। उसी क्रम से रायचद्रभाई ने धीरे-से एक के बाद एक सब शब्द कह सुनाये। मै सतुष्ट हुआ, चकित हुआ और कवि की स्मरण-शक्ति के विषय मे मेरा उच्च विचार हुआ। विलायत की हवा कम पडने के लिए कहा जा सकता है कि यह सुदर अनुभव हुआ।

कवि को अग्रेजी का ज्ञान बिल्कुल न था। उस समय उनकी उमर पच्चीस से अधिक न थी। गुजराती पाठशाला मे भी उन्होने

थोडा ही अभ्यास किया था। फिर भी इतनी शक्ति, इतना ज्ञान और आस-पास से इतना उनका मान ! इससे मैं मोहित हुआ। स्मरण-शक्ति पाठशाला में नही बिकती और ज्ञान भी पाठशाला के बाहर, यदि इच्छा हो—जिज्ञासा हो—तो मिलता तथा मान पाने के लिए विलायत अथवा कही भी नही जाना पडता परतु गुण को मान चाहिए तो मिलता है—यह पदार्थ पाठ मुझे बबई उतरते ही मिला।

कवि के साथ यह परिचय बहुत आगे बढा। स्मरण-शक्ति बहुत लोगो की तीव्र होती है इसमे आश्चर्य की कुछ बात नही। शास्त्र-ज्ञान भी बहुतो मे पाया जाता है, परतु यदि वे लोग सस्कारी न हो तो उनके पास फूटी कौडी भी नही मिलती। जहा सस्कार अच्छे होते है वही स्मरण-शक्ति और शास्त्र-ज्ञान सबध शोभित होता है और जगत को शोभित करता है। कवि सस्कारी ज्ञानी थे।

अपूर्व अवसर एवो क्या रे आवशे,
क्या रे थईशुं बाह्यातर निर्ग्रंथ जो।
सर्व सबधनु बधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशु कव महत्पुरुषने पथ जो ॥
सर्व भाव थी ओदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देश ते सयमहेतु होय जो ॥
अन्य कारणे अन्य कशु कल्पे नहि,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो ॥अपूर्व॥

रायचद्रभाई की १८ वर्ष की उमर के निकले हुए अपूर्व उद्गारो की ये पहली दो कडिया है।

जो वैराग्य इन कडियो मे छलक रहा है, वह मैने उनके दो वर्ष के गाढ परिचय से प्रत्येक क्षण मे देखा है। उनके लेखो की एक असाधारणता यह है कि उन्होने स्वय जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमे कही भी कृत्रिमता नही। दूसरे के ऊपर छाप

डालने के लिए उन्होने एक लाइन भी लिखी हो, यह मैंने नही देखा। उनके पास हमेशा कोई-न-कोई धर्म-पुस्तक और एक कोरी कापी पडी ही रहती थी। इस कापी मे वह अपने मन मे जो विचार आते उन्हे लिख लेते थे। ये विचार कभी गद्य में और कभी पद्य मे होते थे। इसी तरह 'अपूर्व अवसर' आदि पद भी लिखा हुआ होना चाहिए।

खाते, बैठने, सोते और प्रत्येक क्रिया करते हुए उनमे वैराग्य तो होना ही था। किसी समय उन्हे इस जगत् के किसी भी वैभव पर मोह हुआ हो, यह मैने नही देखा।

उनका रहन-सहन मै आदरपूर्वक परतु सूक्ष्मता से देखता था। भोजन मे जो मिले वह उसीमे सतुष्ट रहते थे। उनकी पोशाक सादी थी। कुर्ता, अगरखा, खेस, सिल्क का दुपट्टा और धोती, यही उनकी पोशाक थी तथा ये भी कुछ-बहुत साफ या इस्तरी किये हुए रहते हो, यह मुझे याद नही। जमीन पर बैठना और कुरसी पर बैठना, उन्हे दोनो ही समान थे। सामान्य रीति से दुकान मे वह गद्दी पर बैठते थे।

उनकी चाल धीमी थी और देखनेवाला समझ सकता था कि चलते हुए भी वह अपने विचार मे मग्न है। आखो मे उनके चमत्कार था। वह अत्यत तेजस्वी थे। विह्वलता जरा भी न थी। आखो मे एकाग्रता चित्रित थी। चेहरा गोलाकार, होठ पतले, नाक न नोक-दार न चपटी, शरीर दुर्बल, कद मध्यम, वर्ण श्याम और देखने मे वे शातिमूर्ति थे। उनके कठ मे इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हे सुननेवाले थकते न थे। उनका चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था। उसके ऊपर अतरानद की छाया थी। भाषा उनकी इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हे अपने विचार प्रकट करते समय कभी कोई शब्द ढूढना पडा हो, यह मुझे याद नही। पत्र लिखने बैठते तो शायद ही शब्द बदलते हुए मैंने उन्हे देखा होगा। फिर भी पढनेवाले को यह न मालूम होता था कि कही विचार अपूर्ण है अथवा वाक्य-रचना त्रुटि-पूर्ण है, अथवा शब्दो के चुनाव मे कमी है।

यह वर्णन सयमी के विषय मे सभव है। वाह्याडवर से मनुष्य वीतरागी नही हो सकता। वीतरागता आत्मा की प्रसादी है। यह अनेक जन्मो के प्रयत्नो से मिल सकती है, ऐसा हर मनुष्य अनुभव कर सकता है। रागो को निकालने का प्रयत्न करनेवाला जानता है कि राग-रहित होना कितना कठिन है। यह राग-रहित दशा कवि की स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पडी थी।

मोक्ष की प्रथम सीढी वीतरागता है। जबतक जगत की एक भी वस्तु मे मन रमा है तवतक मोक्ष की वात कैसे अच्छी लग सकती है, अथवा अच्छी लगती भी हो तो केवल कानो को ही, ठीक वैसे ही जैसे कि हमे अर्थ के समझे विना किसी सगीत का केवल स्वर ही अच्छा लगता है। ऐसी केवल कर्णप्रिय क्रीडा मे से मोक्ष का अनुसरण करनेवाले आचरण के आने मे वहुत समय वीत जाता है। आतर वैराग्य के विना मोक्ष की लगन नही होती। ऐसे वैराग्य की लगन कवि मे थी।

•　　•

वणिक तेहनु नाम जेह जूठू नव बोले,
वणिक तेहनु नाम, तोल ओछु नव तोले,
वणिक तेहनु नाम वापे वोल्यु तेपाले,
वणिक तेहनु नाम व्याजसहित धन वाले,
विवेक तोल ए वणिकनु सुलतान तोल ए शाव छे,
वेपार चूके जो वाणीओ दुःख दावानल थाय छे।

—सामल भट्ट

सामान्य मान्यता ऐसी है कि व्यवहार अथवा व्यापार और परमार्थ अथवा धर्म ये दोनो अलग-अलग विरोधी वस्तुएं है। व्यापार मे धर्म को घुसेडना पागलपन है। ऐसा करने से दोनो विगड जाते है। यह मान्यता यदि मिथ्या न हो तो अपने भाग्य मे केवल निराशा ही लिखी है, क्योकि ऐसी एक भी वस्तु नही, ऐसा एक भी व्यवहार नही जिससे हम धर्म को अलग रख सके।

धार्मिक मनुष्य का धर्म उसके प्रत्येक कार्य मे झलकना ही

चाहिए, यह रायचंद्रभाई ने अपने जीवन में बताया था। धर्म कुछ एकादशी के दिन ही, पर्यूषण में ही, ईद के दिन ही, या रविवार के दिन ही पालना चाहिए, अथवा उसका पालन मंदिरों में, देरासरों में और मस्जिदों में ही होना है और दूकान या दरबार में नहीं होता, ऐसा कोई नियम नहीं। इतना ही नहीं, परन्तु यह कहना धर्म को न समझने के बराबर है, यह रायचंद्रभाई कहते, मानते और अपने आचार में बताते थे।

उनका व्यापार हीरे-जवाहरात का था। वह श्री रेवाशंकर जगजीवन झवेरी के साझी थे। साथ में वे कपड़े की दूकान भी चलाते थे। अपने व्यवहार में संपूर्ण प्रकार से वह प्रामाणिकता बताते थे, ऐसी उन्होंने मेरे ऊपर छाप डाली थी। वे जब सौदा करते तो मैं कभी अनायास ही उपस्थित रहता। उनकी बात स्पष्ट और एक ही होती थी। चालाकी सरीखी कोई वस्तु उनमें नहीं देखता था। दूसरे की चालाकी वह तुरंत ताड़ जाते थे। वह उन्हें असह्य मालूम होती थी। ऐसे समय उनकी भृकुटि भी चढ़ जाती और आंखों में लाली आ जाती, यह मैं देखता था।

धर्म-कुशल लोग व्यवहारकुशल नहीं होते, इस वहम को रायचंदभाई ने मिथ्या सिद्ध करके बताया था। अपने व्यापार में वह पूरी सावधानी और होशियारी बताते थे। हीरे-जवाहरात की परीक्षा वह बहुत बारीकी से कर सकते थे। यद्यपि अंग्रेजी का ज्ञान उन्हें न था, फिर भी पेरिस वगैरह के अपने आढ़तियों की चिट्ठियों और तारों के मर्म को वह फौरन समझ जाते थे और उनकी कला समझने में उन्हें देर न लगती। उनके जो तर्क होते थे, वे अधिकांश सच्चे ही निकलते थे।

इतनी सावधानी और होशियारी होने पर भी वह व्यापार की उद्विग्नता अथवा चिंता न रखते थे। दुकान में बैठे हुए भी जब अपना काम समाप्त हो जाता तो उनके पास पड़ी हुई धार्मिक पुस्तक अथवा कापी, जिसमें वह अपने उद्गार लिखते थे, खुल जाती थी। मेरे जैसे जिज्ञासु तो उनके पास रोज आते ही रहते थे और

उनके साथ धर्म-चर्चा करने मे हिचकते न थे। 'व्यापार के समय मे व्यापार और धर्म के समय मे धर्म' अर्थात् एक समय मे एक ही काम होना चाहिए, इस सामान्य लोगो के सुदर नियम का कवि पालन न करते थे। वह शतावधानी होकर इसका पालन न करे तो यह हो सकता है, परतु यदि और लोग उसका उल्लघन करने भी लगे तो जैसे दो घोडो पर सवारी करनेवाला गिरता है, वैसे ही वे अवश्य गिरते। सपूर्ण धार्मिक और वीतरागी पुरुष भी जिस क्रिया को जिस समय करता हो, उसमे ही लीन हो जाय, यह योग्य है। इतना ही नही, बल्कि उसे यही शोभा देता है। यह उसके योग की निशानी है। इसमे धर्म है। व्यापार अथवा इसी तरह की जो कोई अन्य क्रिया करना हो तो उसमे भी पूर्ण एकाग्रता होनी ही चाहिए। अतरग मे आत्मचितन तो मुमुक्षु मे उसके श्वास की तरह सतत चलना ही चाहिए। उससे वह एक क्षण भी वचित नही रहता। परतु इस तरह आत्मचितन करते हुए भी जो कुछ वह बाह्य कार्य करता हो वह उसमे ही तन्मय रहता है।

मै यह नही कहना चाहता कि कवि ऐसा न करते थे। ऊपर मै कह चुका हू कि अपने व्यापार मे वह पूरी सावधानी रखते थे। ऐसा होने पर भी मेरे ऊपर ऐसी छाप जरूर पडी है कि कवि ने अपने शरीर से आवश्यकता से अधिक काम लिया है। यह योग की अपूर्णता तो नही हो सकती है यद्यपि कर्तव्य करते हुए शरीर तक भी समर्पण कर देना यह नीति है, परतु शक्ति से अधिक बोझ उठा कर उसे कर्तव्य समझना यह राग है। ऐसा अत्यत सूक्ष्म राग कवि मे था, यह मुझे अनुभव हुआ है।

बहुत बार परमार्थ दृष्टि से मनुष्य शक्ति से अधिक काम लेता है और बाद मे उसे पूरा करने मे उसे कष्ट सहना पडता है। इसे हम गुण समझते है और इसकी प्रशसा करते है। परतु परमार्थ अर्थात् धर्म-दृष्टि से देखने से इस तरह किये हुए काम मे सूक्ष्म मूर्छा का होना बहुत सभव है।

यदि हम इस जगत् मे केवल निमित्तमात्र ही है, यदि यह

शरीर हमे भाडे मिला है, और उस मार्ग मे हमे तुरत मोक्ष साधन करना चाहिए, यही परम कर्तव्य है, तो इस मार्ग मे जो विघ्न आते हो उनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए। यही पारमार्थिक दृष्टि है, दूसरी नही।

जो दलीलें मैंने ऊपर दी है, उन्हे ही किसी दूसरे प्रकार से रायचदभाई अपनी चमत्कारिक भाषा मे मुझे सुना गये थे। ऐसा होने पर भी उन्होने ऐसी-वैसी उपाधिया उठाई कि जिसके फल-स्वरूप उन्हे सख्त बीमारी भोगनी पडी।

रायचदभाई को परोपकार के कारण मोह ने क्षण भर के लिए घेर लिया था, यदि मेरी यह मान्यता ठीक हो तो 'प्रकृति यानि भूतानि निग्रह किं करिष्यति' यह श्लोकार्थ यहा ठीक बैठता है और इसका अर्थ भी इतना ही है। कोई इच्छापूर्वक वर्ताव करने के लिए उपर्युक्त कृष्ण-वचन का उपयोग करते है, परतु वह तो सर्वथा दुरुपयोग है। रायचदभाई की प्रकृति उन्हे बलात्कार गहरे पानी मे ले गई। ऐसे कार्य को दोषरूप से भी लगभग सपूर्ण आत्माओ मे ही माना जा सकता है। हम सामान्य मनुष्य तो परोपकारी कार्य के पीछे अवश्य पागल बन जाते है, तभी उसे कदाचित् पूरा कर पाते है।

यह भी मान्यता देखी जाती है कि धार्मिक मनुष्य इतने भोले होते है कि उन्हे सबकोई ठग सकता है। उन्हे दुनिया की बातो की कुछ भी खबर नही पडती। यदि यह बात ठीक है तो कृष्णचद्र और रामचद्र दोनो अवतारो को केवल ससारी मनुष्यो मे ही गिनना चाहिए। कवि कहते थे कि जिसे शुद्ध ज्ञान है उसका ठगा जाना असभव होना चाहिए। मनुष्य धार्मिक अर्थात् नीतिमान् होने पर भी कदाचित् ज्ञानी न हो, परतु मोक्ष के लिए नीति और अनुभव ज्ञान का सुसगम होना चाहिए। जिसे अनुभव-ज्ञान हो गया है, उसके पास पाखड निभ ही नही सकता। सत्य के पास असत्य नहीं निभ सकता। अहिंसा के सान्निध्य में हिंसा बद हो जाती है। जहा सरलता प्रकाशित होती है वहा छल-रूपी अधकार नष्ट हो जाता

है। ज्ञानवान और धर्मवान यदि कपटी को देखे तो उसे फौरन पहचान लेता है और उसका हृदय दया से आर्द्र हो जाता है। जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष देख लिया है वह दूसरे को पहचाने विना कैसे रह सकता है। कोई-कोई धर्म के नाम पर उन्हे ठग भी लेते थे। ऐसे उदाहरण नियम की अपूर्णता सिद्ध नही करते, परतु ये शुद्ध ज्ञान की ही दुर्लभता सिद्ध करते है।

इस तरह के अपवाद होते हुए भी व्यवहार-कुशलता और धर्मपरायणता का सुदर मेल जितना मैने कवि मे देखा है उतना किसी दूसरे मे देखने मे नही आया।

• • •

रायचदभाई के धर्म का विचार करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि धर्म का उन्होने क्या स्वरूप समझाया था।

धर्म का अर्थ मतमतातर नही। धर्म का अर्थ शास्त्रो के नाम से कही जानेवाली पुस्तको को पढ जाना, कठस्थ कर लेना अथवा उनमे जो कुछ कहा है, उसे मानना भी नही है।

धर्म आत्मा का गुण है और वह मनुष्य-जाति मे दृश्य अथवा अदृश्य रूप से मौजूद है। धर्म से हम मनुष्य-जीवन का कर्तव्य समझ सकते है। धर्म द्वारा हम दूसरे जीवो के साथ अपना सच्चा सबध पहचान सकते है। यह स्पष्ट है कि जबतक हम अपनेको न पहचान ले तबतक यह सब कभी भी नही हो सकता। इसलिए धर्म वह साधन है, जिसके द्वारा हम अपने-आपको स्वय पहचान सकते है।

यह साधन हमे जहा-कही मिले, वही से प्राप्त करना चाहिए। फिर भले ही वह भारतवर्ष मे मिले, चाहे यूरोप से आये या अरबस्तान से आये। इन साधनो का सामान्य स्वरूप समस्त धर्म-शास्त्रो मे एक ही सा है। इस बात को वह कह सकता है जिसने भिन्न-भिन्न शास्त्रो का अभ्यास किया है। ऐसा कोई भी शास्त्र नही कहता कि असत्य बोलना चाहिए, अथवा असत्य आचरण करना चाहिए। हिसा करना किसी भी शास्त्र मे नही बताया। समस्त शास्त्रो का दोहन करते हुए शकराचार्य ने कहा है, "ब्रह्म

सत्य जगन्मिथ्या।" उसी वात को कुरानशरीफ में दूसरी तरह कहा है कि ईश्वर एक ही है और वही है, उसके विना और दूसरा कुछ नही। वाइविल मे कहा है कि मै और मेरा पिता एक ही हैं। ये सव एक ही वस्तु के रूपातर है। परन्तु इस एक ही सत्य के स्पष्ट करने मे अपूर्ण मनुष्यो ने अपने भिन्न-भिन्न दृष्टि-विदुओ को काम मे लाकर हमारे लिए मोह-जाल रच दिया है। उसमे से हमें वाहर निकलना है। हम अपूर्ण है और अपने से कम अपूर्ण की मदद लेकर आगे वढते है और अत मे न जाने अमुक हृदय तक जाकर ऐसा मान लेते है कि आगे रास्ता ही नही है, परतु वास्तव में ऐसी वात नही है। अमुक हद के वाद शास्त्र मदद नही करते, परतु अनुभव मदद करता है। इसलिए रायचदभाई ने कहा है

"ए पद श्रीसर्वज्ञे दीठु ध्यानमा, कही शक्या नहीं ते पद श्रीभगवत जो एह परमपद प्राप्तिनु कर्यु ध्यानमें, गजावगर पण हाल मनोरथ रूप जो "

इसलिए अत मे तो आत्मा को मोक्ष देनेवाली आत्मा ही है।

इस शुद्ध सत्य का निरूपण रायचदभाई ने अनेक प्रकारो से अपने लेखो मे किया है। रायचदभाई ने वहुत-सी धर्म-पुस्तकों का अच्छा अभ्यास किया था। उन्हे सस्कृत और मागधी भाषा को समझने मे जरा भी मुश्किल न पडती थी। उन्होने वेदात का अभ्यास किया था। इसी प्रकार भागवत और गीताजी का भी उन्होने अभ्यास किया था। जैन-पुस्तके तो जितनी भी उनके हाथ मे आती, वह वाच जाते थे। उनके वाचने और ग्रहण करने की शक्ति अगाध थी। पुस्तक का एक वार का वाचन उन पुस्तको के रहस्य जानने के लिए उन्हे काफी था। कुरान, जदेअवस्ता आदि पुस्तके भी वह अनुवाद के जरिए पढ गये थे।

वह मुझसे कहते थे कि उनका पक्षपात जैन-धर्म की ओर था। उनकी मान्यता थी कि जिनागम मे आत्मज्ञान की पराकाष्ठा है, मुझे उनका यह विचार वता देना आवश्यक है।

परतु रायचदभाई का दूसरे धर्मो के प्रति अनादर न था, वल्कि

वेदात के प्रति पक्षपात भी था। वेदाती को तो कवि वेदाती ही मालूम पडते थे। मेरे साथ चर्चा करते समय मुझे उन्होने कभी भी यह नही कहा कि मुझे मोक्ष-प्राप्ति के लिए किसी खास धर्म का अवलबन लेना चाहिए। मुझे अपना ही आचार-विचार पालने के लिए उन्होने कहा। मुझे कौन-सी पुस्तके बाचनी चाहिए, यह प्रश्न उठने पर, उन्होने मेरी वृत्ति और मेरे बचपन के सस्कार देखकर मुझे गीताजी बाचने के लिए उत्तेजित किया और दूसरी पुस्तको मे पचीकरण, मणिरत्नमाला, योगवासिष्ठ का वैराग्य प्रकरण, काव्य-दोहन पहला भाग, और अपनी मोक्षमाला बाचने के लिए कहा।

रायचदभाई बहुत बार कहा करते थे कि भिन्न-भिन्न धर्म तो एक तरह के बाडे है और उनमे मनुष्य घिर जाता है। जिसने मोक्ष-प्राप्ति ही पुरुषार्थ मान लिया है, उसे अपने माथे पर किसी भी धर्म का तिलक लगाने की आवश्यकता नही।

सूरत आवे त्यम तु रहे, ज्यम त्यम करिने हरीने लहे[१] ....

अर्थात्—जैसे सूत निकलता है वैसे ही तू रह! जैसे बने तैसे हरि को प्राप्त कर।

जैसे अखा का यह सूत्र था वैसे ही रायचदभाई का भी था। धार्मिक झगडो से वे हमेशा ऊबे रहते थे। उनमे वह शायद ही कभी पडते थे। वह समस्त धर्मो की खूबिया पूरी तरह से देखते और उन्हे उन धर्मावलबियो के सामने रखते थे। दक्षिण अफ्रीका के पत्र-व्यवहार मे भी मैने यही वस्तु उनसे प्राप्त की।

मै स्वय तो यह माननेवाला हू कि धर्म उस धर्म के भक्तों की दृष्टि से सपूर्ण है, और दूसरो की दृष्टि से अपूर्ण है। स्वतत्र रूप से विचार करने से सब धर्म पूर्णापूर्ण है। अमुक हद के बाद सब शास्त्र बधन रूप मालूम पडते है। परतु यह तो गुणातीत की अवस्था हुई। रायचदभाई की दृष्टि से विचार करते है तो किसीको अपना धर्म छोडने की आवश्यकता नही। सब अपने-अपने

धर्म में रहकर अपनी स्वतत्रता मोक्ष प्राप्त कर सकते है, क्योकि मोक्ष प्राप्त करने का अर्थ सर्वाश मे राग-द्वेष रहित होना ही है।[1]

: २२ :

आचार्य सुशील रुद्र

आचार्य सुशील रुद्र का देहान्त ३० जून, १९२५ को होगया। वह मेरे एक आदरणीय मित्र और खामोश समाज-सेवी थे। उनकी मृत्यु से मुझे जो दुःख हुआ है उसमे पाठक मेरा साथ दे। भारत की मुख्य बीमारी है राजनैतिक गुलामी। इसलिए वह उन्हीको मानता है, जो उसे दूर करने के लिए खुले आम सरकार से लडाई लडते है, और जिसने कि अपनी जल और थल-सेना तथा धन-बल और कूट-नीति के द्वारा अपनी मजबूत मोर्चाबंदी कर ली है। इससे स्वभावत उसे उन कार्यकर्ताओ का पता नही रहता जो नि स्वार्थ होते है, और जो जीवन के दूसरे विभागो मे, जो कि राजनीति से कम उपयोगी नही होते है, अपनेको खपा देते है। सेट-स्टीफन्स कालेज, दिल्ली, के प्रिंसिपल सुशीलकुमार रुद्र ऐसे ही विनीत कार्यकर्त्ता थे। वह पहले दरजे के शिक्षा-शास्त्री थे। प्रिंसिपल के नाते वह चारो ओर लोकप्रिय हो गये थे। उनके और उनके विद्यार्थियो के बीच एक प्रकार का आध्यात्मिक संबंध था। यद्यपि वह ईसाई थे, तथापि वह अपने हृदय मे हिंदू-धर्म और इस्लाम के लिए भी जगह रखते थे। इन्हे वह बडे आदर की दृष्टि से देखते थे। उनका ईसाई धर्म औरो से फटक कर अलग रहनेवाला न था, जो अकेले ईसामसीह को दुनिया का तारनहार न मानता हो उसके सर्वनाश की दुहाई देनेवाला न था। अपने धर्म पर दृढ रहते हुए भी वह औरो को सहन करते थे। वह राजनीति के बडे तेज और चिता-शील स्वाध्यायी थे। अग्रगामी कहे जानेवाले लोगो के प्रति अपनी

---

[1] 'श्रीमद्‌राजचद्र' से

सहानुभूति की कवायद जहा वह न दिखाते थे, वहा वह छिपाते न थे। जब से, १९१५ से, मै अफ्रीका से लौटा मै जब-कभी दिल्ली जाता, उन्हीका अतिथि होता। रौलट कानून के सिलसिले मे जबतक मैने सत्याग्रह नही छेडा तबतक यह कार्य निर्विघ्न जारी रहा। ऊचे हल्को मे उनके कितने ही अग्रेज मित्र थे। एक पूरे अग्रेजी मिशन से उनका सबध था। अपने कालेज के वह पहले ही हिंदुस्तानी प्रिंसिपल थे। इसलिए मेरे दिल ने कहा कि मेरा उनके साथ समागम रहने और उनके घर मे ठहरने से शायद लोगो को यह गलत खयाल हो कि मेरा उनका मतैक्य है, और उनके साथियो को अनावश्यक सकट का सामना करना पडे। इसलिए मैने दूसरी जगह ठहरना चाहा। उनका जवाब अपने ढग का था—"मेरा धर्म लोगो के अनुमान से अधिक गहरा है। मेरे कुछ मत तो मेरे जीवन के घनिष्ठ अंग है। वे गहरे और दीर्घकाल के मनन और प्रार्थना के बाद निश्चित हुए है। मेरे अग्रेज मित्र उन्हे जानते है। यदि अपने सम्माननीय मित्र और अतिथि के रूप मे मै आपको अपने घर मे रखू तो वे इसका गलत अर्थ नही कर सकते। और यदि कभी मुझे इन दो बातो मे से कि अग्रेज के अदर जो कुछ मेरा प्रभाव है वह चला जाय या आप किसी एक को चुनना पडे तो मै जानता हू कि मै किस चीज को पसद करूंगा। आप मेरे घर को नही छोड सकते।" तब मैने कहा—"लेकिन मुझसे तो हर किस्म के लोग मिलने के लिए आते है। आप अपने मकान को सराय तो बना नही सकते।" उन्होने उत्तर दिया—"सच पूछो तो मुझे यह सब अच्छा मालूम होता है। आपके मित्रो का आना-जाना मुझे पसद है। यह देखकर मुझे आनद होता है कि आपको अपने मकान मे ठहराकर मेरे हाथो कुछ देश-सेवा हो रही है।" पाठकों को शायद मालूम न हो कि खिलाफत के दावे को प्रत्यक्ष रूप देने के लिए जो पत्र मैने वायसराय को लिखा था उसका विचार और मसविदा प्रिंसिपल रुद्र के मकान मे तैयार हुआ था। वह तथा चार्ली एंड्रूज उसमे सुधार सुझानेवाले थे। उन्हीके घर की छांह मे

बैठकर असहयोग की कल्पना उत्पन्न और प्रवर्तित हुई। मौलानाओ, दूसरे मुसलमानो तथा अन्य मित्रो और मेरे बीच जो निजी मत्रणा हुई उसकी कारंवाही को वह वडी दिलचस्पी के साथ चुपचाप देखते थे। उनके तमाम कार्य धर्म-भाव से प्रेरित होते थे ऐसी हालत मे दुनियावी सत्ता छिन जाने का कोई डर न था—तथापि वही धर्म-भाव उन्हे सासारिक सत्ता के अस्तित्व और उपयोग तथा मित्रता के मूल्य को समझने मे सहायक होता था। जिस धार्मिक भाव से मनुष्य को विचार और आचार के सुदर मेल का यथार्थ ज्ञान होता है, उसकी सत्यता को उन्होने अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखाया था। आचार्य रुद्र ने अपनी ओर इतने उच्च चरित्र लोगो को आकर्षित किया था, जिनके सहवास की इच्छा किसीको हो सकती है। बहुत लोग नही जानते है कि श्री सी० एफ० एड्रयूज हमे प्रिंसिपल रुद्र के ही कारण प्राप्त हुए है। वे जुडे भाई जैसे थे। उनका स्नेह आदर्श मित्रता के अध्ययन का विषय था ।

प्रिंसिपल रुद्र अपने पीछे दो लडके और एक लडकी को छोड गये है।[1]

: २३ :

लाला लाजपतराय

लाला लाजपतराय को गिरफ्तार क्या किया, सरकार ने हमारे एक बडे-से-बडे मुखिया को पकड लिया है। उसका नाम भारत के बच्चे-बच्चे की जबान पर है। अपने स्वार्थ-त्याग के कारण वह अपने देश-भाइयो के हृदय मे उच्च स्थान प्राप्त कर चुके है। अहिंसा के प्रचार के लिए और उसके साथ ही लोकमत को सगठित और प्रकट करने के लिए उन्होने जितना परिश्रम किया

---

[1] हिंदी नवजीवन, ९-७-२५

है उतना बहुत ही थोडे लोगो ने किया है। उनकी गिरफ्तारी से सरकार की नीति या वृत्ति का जितना सच्चा पता चलता है उतना दूसरी किसी बात से नही।

पजाबी भाई लालाजी को बडे-से-बडा गौरव जो दे सकते है वह यह है कि वे यही समझकर कि लालाजी हमारे साथ ही हैं, उनका काम बराबर आगे बढाते रहे।[1]

••

आखिरकार लाजपतराय, पडित सतानम, मलिक लालखान और डाक्टर गोपीचद के मुकदमे का फैसला हो गया। लालाजी तथा पडित सतानम को अठारह महीने की कैद की सजा दी गई। अभियुक्तो के बहुतेरा विरोध करने पर भी सरकार ने जबरदस्ती उनके बचाव के लिए एक वकील नियुक्त किया था। इस तमाशे के होते हुए भी उनको सजा दी जाना तो निश्चित ही था। सजा का हुक्म सुनाये जाने के जरा पहले ही लालाजी ने मुझे एक पत्र लिखा। उसमे उनके चित्त की प्रसन्नता टपकी पडती है। वह इस प्रकार है

"आपने जो स्नेहपूर्ण टिप्पणी लिखी है तथा रामप्रसादजी और पुरुषोत्तमलाल के द्वारा जो सदेश भेजा, उनके लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद। मै बहुत मजे मे हू। मैने अन्न-त्याग नही किया था। मै अपने आराम के लिए शोरोगुल मचाने के खिलाफ हू। हम यहा इसलिए नही आये है कि किसी तरह की सुविधाए या रियायते चाहे। सच्चा हाल अखबारो मे जाहिर हुआ है और आशा है कि वह अब आप तक पहुच गया होगा। हम सब लोगो का चित्त बहुत प्रसन्न है और मै राष्ट्रीय पाठशालाओ तथा धार्मिक ग्रथो के अध्ययन मे अपने समय का खूब सदुपयोग कर रहा हू। अहमदाबाद मे जो कुछ हुआ है उसके तथा सर्वपक्षीय परिषद् (राउड टेबल काफ्रेस) के हालात मुझे मालूम हो गये है। हमारी

---

[1] हिंदी नवजीवन, ११-१२-२१

तकलीफो की वजह से हमारे सिद्धातो के निर्णय मे बाधा न होने दीजिएगा । आप यकीन मानिये, हम अपने मनोरथ को पूरा करने के लिए जबतक चाहिए तबतक और जितनी चाहिए, उतनी तकलीफे बरदाश्त करने को हर तरह से तैयार है । और अब जब कि इसीके लिए हम यहा आये हुए है तो हमे इसे अत तक निबाहना चाहिए ।"

हमे आशा करनी चाहिए कि लालाजी और पडित सतानम को उनका अध्ययन जारी रखने दिया जायगा । मै उन्हे तथा उनके साथियो को यह भी सूचित करने का साहस करूगा कि वे मौलाना शौकतअली और श्री राजगोपालाचारी तथा उनके साथियो का अनुकरण करे, अर्थात् वे साहित्य-सबधी उद्योगो के साथ-ही-साथ चरखा कातने पर भी ध्यान देगे । मै अभिवचन देता हू कि बीच-बीच मे चरखा कातते रहने से लालाजी के इतिहास-लेखन तथा पडित सतानम के सस्कृत-अध्ययन मे हानि न होगी ।[1]

मैने तो लालाजी को एक बच्चे के समान खुले दिलवाला पाया है । उनके त्याग की जोड लगभग हुई नही । मेरी उनसे हिंदू-मुसलमानो के बारे मे एक बार नही, अनेक बार बाते हुई है । वह मुसलमानो के साथ तनिक भी दुश्मनी नही रखते, लेकिन उन्हे जल्दी एकता हो जाने मे शक है । वह ईश्वर से प्रकाश पाने के लिए प्रार्थना कर रहे है । खुद शकित रहते हुए भी वह हिंदू-मुसलमानो की एकता के कायल है, क्योकि जैसाकि उन्होने मुझसे कहा है वह स्वराज्य के कायल है । वह मानते है कि ऐसी एकता के बिना स्वराज्य स्थापित नही हो सकता । तो भी वह यह नही जानते कि यह एकता किस तरह और कब होगी । मेरा उपाय उन्हे पसद है, परतु इस बात मे शक है कि हिंदू लोग उसका मर्म समझ पावेगे

[1] हिंदी नवजीवन, २५-१-२२

या नही और अगर समझ पावेगे तो उसकी शराफत की कदर करेगे या नही ।[१]

•

•• • ••

कहा जाता है कि किसीने यह सवाद भेजा है कि अमृतसर की खिलाफत-परिषद मे मैने लाला लाजपतराय को भीरु कहा है। लालाजी जो कुछ भी हो, वह भीरु नही है। मेरे व्याख्यान का पूर्वापर सबध देखने से प्रतीत होगा कि मै उनका इस आक्षेप से कि वह मुसलमानो के विरोधी है बचाव कर रहा था। उस समय मैने जो कुछ कहा था वह यह है लालाजी सदा शात चित्त रहते है और उन्हे मुसलमानो के उद्देश्य के बारे मे बडी शका रहती है। लेकिन वह मुसलमानो की दोस्ती सच्चे दिल से चाहते है। लालाजी के प्रति मेरा बडा आदर-भाव है। मै उन्हे बहादुर, आत्म-त्यागी, उदार, सत्यनिष्ठ और ईश्वर से डरनेवाला मानता हू। उनका स्वदेश-प्रेम बडा ही शुद्ध है। देश की जितनी और जैसी सेवा उन्होने की है उसमे उनकी बराबरी करनेवाले बहुत कम है। और यदि ऐसे शख्सो पर सदेह किया जा सके कि उनके उद्देश्यहीन है तो हमे हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य से उसी प्रकार निराश होना पडेगा जिस प्रकार हमे अली भाइयो पर हीन उद्देश्य रखने का सदेह करने पर निराश होना पडे। हम सब अपूर्ण है, हमारा मत एक-दूसरे के खिलाफ दूषित हो गया है। हम, हिंदू और मुसलमान, जैसे है वैसे ही समझे जाने चाहिए। जो हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य को अपना धर्म मानते है उन्हे तो जो साधन हमारे पास है उसीके द्वारा उसे सपादन करने का प्रयत्न करना चाहिए।[२]

•• • • •••

---

[१] हिंदी नवजीवन १-६-२४

[२] हिंदी नवजीवन, १४-१२-२४

"आपके तार के लिए आभार मानता हू। लोगो की ओर से पुलिस को हमला करने के लिए कोई कारण नही मिला है। यह मामला इरादापूर्वक किया गया था। दो नग्न चोटे लगी है, मगर गभीर नही है। एक बाई छाती पर और एक कधे पर लगी है। दूसरी चोटे सत्यपाल, गोपीचद, हसराज, महम्मद आलम आदि मित्रो ने सभाल ली। दूसरो पर भी मार पड़ी है और चोटे लगी है, किंतु चिता का कोई कारण नही है।"[1]

—लाजपतराय

मैने लाला लाजपतराय को तार से धन्यवाद दिया था और हालत पूछी थी। उसके जवाब मे तुरत ही लालाजी ने ऊपर का तार भेजा। आज के लोगो मे से, जबकि अधिकाश की अभी रेखे भी नही भीगी थी, लालाजी ने 'पजाब केसरी' का नाम पाया था। अबतक उनका यह अल्काब जैसा-का-तैसा कायम है, क्योकि चाहे उनके पक्ष और विपक्ष मे कुछ भी क्यो न कहा जाय, वह अब भी पजाब के सबसे बडे निर्विवाद नेता है और सारे भारतवर्ष मे सबसे अधिक लोकप्रिय और प्रतिष्ठित नेताओ मे से है। वह महासभा के सभापति हो चुके है, यूरोप मे उनका नाम है और वह उन गिने-चुने नेताओ से है, जो दिल की बात तुरत ही कह देते है, गो कोई भले ही गलतफहमी करे या उससे भी अधिक उन्हे अक्सर पहचाननेवाला मूर्ख समझे। मगर लालाजी अपनी आदत से लाचार है, क्योकि वह अपने दिल मे कोई बात छिपाकर रख ही नही सकते। जो बात सोची, वह वह कहेगे ही। इसलिए जब मैने यह शीर्षक पढा "लालाजी पर मार" और मार के ब्योरे पढे तभी मेरे मुह से निकल गया—"शाबाश!" अब हमे स्वराज्य पाने मे बहुत देर नही लगेगी, क्योकि चाहे हमारी क्रांति हिंसक हो या अहिंसक,

[1] साइमन-कमीशन के लाहौर आने पर उसके विरोध में निकाले गये जलूस का लालाजी ने नेतृत्व किया था। पुलिस ने उस जलूस पर लाठियां चलाई थीं।

स्वतत्र होने के पहले हमे देश के नाम पर मरने की कला सीखनी होगी। इसके अलावा जवतक महान प्रयत्न न किया जावे, अहिंसक दवाव से भी शासक झुकेगे नही। आदर्श और सपूर्ण अहिंसा के सामने, मै यह कल्पना कर सकता हू कि शासको की वृत्ति विल्कुल ही वदल जानी सभव है। मगर गोकि आदर्श और सपूर्ण कार्यक्रम वनाना सभव है, तथापि उसका सपूर्ण और आदर्श अमल कभी सभव नही है, इसलिए सवसे सस्ती वात यही है कि नेताओ पर मार पडे या गोली चले। अवतक अनजान आदमियो पर मार पडी है या वे मारे गये है। थोडे-से आदमियो को गोली मारने से भी देश का ध्यान जितना आकर्षित नही होता उससे कही अधिक लालाजी पर हमला करने से हुआ है। लालाजी तथा दूसरे नेताओ पर हमले से हिंदुस्तान के राजनीतिज्ञ विचार मे पड गये है और सरकार की शाति तो जरूर ही भग हो गई होगी।[1]

... ...

. लाला लाजपतराय का देहात हो गया। लालाजी चिरजीवी होवे। जवतक हिंदुस्तान के आकाश मे सूर्य चमकता है तवतक लालाजी मर नही सकते। लालाजी तो एक सस्था थे। अपनी जवानी के ही समय से उन्होने देशभक्ति को अपना धर्म वना लिया था और उनके देशप्रेम मे सकीर्णता न थी। वह अपने देश से इसलिए प्रेम करते थे कि वह ससार से प्रेम करते थे। उनकी राष्ट्रीयता अतर्राष्ट्रीयता से भरपूर थी। इसलिए यूरोपियन लोगो पर भी उनका इतना अधिक प्रभाव था। यूरोप और अमेरिका मे उनके अनेक मित्र थे। वे मित्र लालाजी को जानते थे और इसलिए उनसे प्रेम करते थे।

उनकी सेवाए विविध थी। वह वडे ही उत्साही समाज और धर्म-सुधारक थे। हममे से वहुत-से लोगो के समान वह भी इसीलिए राजनीतिज्ञ वने थे कि समाज और धर्म-सुधार की उनकी लगन

---

[1] हिंदी नवजीवन, ८-११-२८

राजनीति मे शामिल हुए विना पूरी होती ही नही थी। सार्वजनिक जीवन शुरू करने के कुछ ही समय वाद उन्होने देख लिया था कि विदेशी गुलामी से देश के स्वतत्र हुए विना हमारे इच्छित सुधारो में से वहुत-से नही हो सकेगे। जैसाकि हममे मे वहुतो को जान पडता है, उन्हे भी जान पडा था कि विदेशी परतत्रता का जहर देश की नस-नस मे घुस गया है।

ऐसे एक भी सार्वजनिक आदोलन का नाम लेना असभव है, जिसमे लालाजी शामिल न थे। सेवा करने की उनकी भूख सदा अतृप्त ही रहती थी। उन्होने शिक्षण-सस्थाए खोली, वह दलितो के मित्र वने, जहा कही दु ख-दारिद्र्य हो, वही वह दौडते थे। नवयुवको को वह असाधारण प्रेम से अपने पास जमा करते थे। सहायता के लिए किसी नौजवान की प्रार्थना उनके पास वेकार न गई। राजनैतिक क्षेत्र मे वह ऐसे थे कि उनके विना चल ही नही सकता था। अपने विचार प्रकट करने मे वह कभी भयभीत न हुए। उस समय भी जवकि कष्ट सहना रोजमर्रा की वात नही हो गई थी, अपने विचार निर्भीकता से प्रकाशित करने के लिए उन्होने कष्ट सहा था। उनके जीवन मे कोई छिपा हुआ रहस्य नही था। उनकी अत्यत अधिक स्पष्टवादिता से मित्रो को प्राय घवराहट मे पडना होता था, उनके आलोचक भी चक्कर मे पड जाते थे, मगर उनकी यह आदत छूटनेवाली नही थी।

मुसलमान मित्रो का लिहाज रखता हुआ भी मै दावे के साथ यह कहता हू कि लालाजी इस्लाम के दुश्मन नही थे। हिंदू-धर्म को सवल वनाने तथा शुद्ध करने की उनकी प्रवल इच्छा को भूल से मुसलमानो या इस्लाम के प्रति घृणा नही समझनी चाहिए। हिंदू-मुसलमानो मे एकता स्थापित करने की उनकी हार्दिक इच्छा थी। वह हिंदूराज की चाहना नही करते थे, वह हिंदुस्तानी राज की इच्छा करते थे। अपने-आपको हिंदुस्तानी कहनेवाले सभी लोगो मे वह सपूर्ण समानता स्थापित करना चाहते थे। लालाजी की मृत्यु से भी हम परस्पर एक-दूसरे पर विश्वास करना

सीखे और अगर हम निर्भय वन जाय तो यह तुरंत ही सभव है।

'उनके लिए एक राष्ट्रीय स्मारक की माग अवश्य ही होनी चाहिए और वह होगी भी। मेरी विनम्र सम्मति मे कोई स्मारक तवतक सपूर्ण नही हो सकता जवतक कि स्वतत्रता जरूर प्राप्त करनी है, यह दृढ विश्वास न हो, और स्वतत्रता प्राप्त करने के लिए वह जीते थे, इसीके लिए उनकी ऐसी गौरवमयी मृत्यु भी हुई। जरा हम याद करे कि उनकी अतिम इच्छा क्या थी। उन्होने नई पीढी को हिंदुस्तान की स्वतंत्रता प्राप्त करने तथा उसके गौरव की रक्षा करने का भार सौंपा है। नई पीढी मे उन्होने जो विश्वास दिखलाया, वह क्या उसके योग्य आपको सावित करेगी ? और हम वूढो मे से, जो भारतवर्ष को स्वतत्र देखने के लालाजी तथा दूसरे अनेक स्वर्गीय देशभक्तो के स्वप्न को सही वनाने के लिए अभी तक वचे हुए है, एक वार सभी मिलकर महान प्रयत्न कर अपनेको लालाजी के जैसे देशवधु पाने का अधिकारी सिद्ध करेगे।[1]

... ...

. . . . जव राजनीति को लोग भूल जायंगे, जव जनता का ध्यान खीच लेनेवाली अनेक क्षणभगुर वस्तुएं भी विस्मृत हो जायगी, तव भी लालाजी के गभीर और विशाल हरिजन-प्रेम को और उनकी तज्जनिक महान् सेवाओ को करोड़ो हिंदू ही नही, वल्कि कोटिश सवर्ण हिंदू भी—और हिंदू ही क्यो, समस्त भारतवर्ष वड़ी श्रद्धा-भक्ति से याद किया करेगा। लालाजी एक महान् मानव-प्रेमी थे और उनका वह मानव-प्रेम विश्वव्यापी था। उनकी प्रत्येक वर्षी के अवसर पर हमे अपने जीवन मे लालाजी को उनकी प्रत्येक विगत वर्षी की अपेक्षा, अधिकाधिक सजीव करते जाना चाहिए। लालाजी-जैसे समाज-सुधारको का जव निधन होता है तव केवल उनकी देह का ही नाश होता है। उनका कार्य और

[1] हिंदी नवजीवन, २२-११-२८

उनके विचारो का देह के साथ अन नही होता। उनकी शक्ति तो उत्तरोत्तर बढती जाती है। हमे इसका अनुभव तब और अधिक होता है जब हम देखते है कि ज्यो-ज्यो समय बीतता है त्यो-त्यो इस जीर्ण चोले के बाहर इसका प्रभाव स्वत प्रकट होता जाता है। मनुष्य के अदर जो क्षणजीवी अश है वह देह के साथ नाश को प्राप्त हो जाता है, किंतु मनुष्य का जो शाश्वत अविनाशी अश है वह तो देह के भस्मीभूत होने पर भी जीवित रहता है और देह का बधन दूर हो जाने से वह और भी अधिक प्रकाशमान हो जाता है। इस विचार को सामने रखकर हमे लालाजी की स्मृति को चिरजीवी रखना चाहिए। हरिजन हिंदू तथा सवर्ण हिंदू, दोनो ही स्व० लालाजी का पुण्यस्मरण करके हिंदू-समाज मे से यह अस्पृश्यता का पाप-कलक धो डालने का नये सिरे से सकल्प करे। हरिजन तो उन त्रुटियो को दूर करे जो अत्याचार बर्दाश्त करते-करते लोगो मे पैदा हो जाती है और सवर्ण अपने उस पाप को पखारकर शुद्ध हो जाय, जो उन्होने हरिजनो को जन्मना अस्पृश्य और अपने को जन्मना उच्च मान कर किया है।[1]

: २४ :

वासंती देवी

कुछ वर्ष पूर्व मैने स्वर्गीय रमाबाई रानडे के दर्शन का वर्णन किया था। मैने आदर्श विधवा के रूप मे उनका परिचय दिया था। इस समय मेरे भाग्य में एक महान् वीर की विधवा के वैधव्य के आरभ का चित्र उपस्थित करना बदा है।

वासती देवी के साथ मेरा परिचय १९१९ मे हुआ है। गाढ परिचय १९२१ मे हुआ। उनकी सरलता, चातुरी और उनके अतिथि-सत्कार की बहुतेरी बाते मैने सुनी थी। उनका अनुभव

---

[1] हरिजन-सेवक, २३-११-३४

भी ठीक-ठीक हुआ था। जिस प्रकार दार्जिलिंग मे देशबंधु के साथ मेरा संबंध घनिष्ठ हुआ उसी तरह वासंती देवी के साथ भी हुआ। उनके वैधव्य मे तो परिचय बहुत ही बढ गया है। जब से वह दार्जिलिंग से शव को लेकर कलकत्ते आई है तब से मै कह सकता हू कि उनके साथ ही रहा हू। वैधव्य के बाद पहली मुलाकात उनके दामाद के घर हुई। उनके आस-पास बहुतेरी बहने बैठी थी। पूर्वाश्रम मे तो जब मैं उनके कमरे मे जाता तो खुद वही सामने आती और मुझे बुलाती। वैधव्य मे मुझे क्या बुलाती? पुतली की तरह स्तम्भित बैठी अनेक बहनो मे से मुझे उन्हे पहचानना था। एक मिनट तक तो मै खोजता ही रहा। माग मे सिंदूर, ललाट पर कुंकुम, मुह मे पान, हाथ मे चूडिया और साडी पर लेस, हँस-मुख चेहरा—इनमे मे से एक भी चिन्ह मै न देखू तो वासंती देवी को किस तरह पहचानू? जहा मैने अनुमान किया था कि वह होगी वहा जाकर बैठ गया और गौर से मुख-मुद्रा देखी। देखना असह्य हो गया। चेहरा तो पहचान मे आया। रुदन रोकना असंभव हो गया। छाती को पत्थर बनाकर आश्वासन देना तो दूर ही रहा।

उनके मुख पर सदा-शोभित हास्य आज कहा था? मैने उन्हें सांत्वना देने, रिझाने और बातचीत कराने की अनेक कोशिशे की। बहुत समय के बाद मुझे कुछ सफलता मिली।

देवी जरा हँसी।

मुझे हिम्मत हुई और मै बोला, "आप रो नही सकती। आप रोवेगी तो सब लोग रोवेगे। मोना (बडी लड़की) को बडी मुश्किल से चुपकी रखा है। बेबी (छोटी लडकी) की हालत तो आप जानती ही है। सुजाता (पुत्रवधू) फूट-फूटकर रोती थी, सो बडे प्रयास से शात हुई है। आप दया रखिएगा। आपसे अब बहुत काम लेना है।"

वीरागना ने दृढता-पूर्वक जवाब दिया, "मै नही रोऊगी।

मुझे रोना आता ही नही।"

मै इसका मर्म समझा, मुझे सतोप हुआ।

रोने से दु ख का भार हल्का हो जाता है। इस विधवा वहन को तो भार हलका नहीं करना था, उठाना था। फिर रोती कैसे ?

अव मै कैसे कह सकता था—"लो, चलो, हम भाई-वहन पेट भर रो ले और दु ख कम कर ले ?"

हिंदू विधवा दु ख की प्रतिमा है। उसने ससार के दुख का भार अपने सिर ले लिया है। उसने दु ख को मुख वना डाला है। दु ख को धर्म वना डाला है।

वासती देवी सव तरह के भोजन करती थी। १९२० तक के समय मे उनके यहा छप्पन भोग होते थे और सैकडो लोग भोजन करते थे। पान के विना वह एक मिनिट नही रह सकती थी। पान की डिविया पास ही पडी रहती थी।

अव श्रृगार-भाव का त्याग, पान का त्याग, मिष्ठानो का त्याग, मास-मत्स्य का त्याग, केवल पति का ध्यान, परमात्मा का ध्यान।

इस दु ख को सहन करना धर्म है या अधर्म ? और धर्मो मे तो ऐसा नही देखा जाता। हिंदू-धर्मशास्त्रियो ने भूल तो न की हो ? वासती देवी को देखकर मुझे इसमे भूल नही दिखाई देती, वल्कि धर्म की शुद्ध भावना दिखाई देती है। वैधव्य हिंदू-धर्म का श्रृगार है। धर्म का भूपण वराग्य है, वैभव नही। दुनिया भले ही और कुछ कहे तो कहती रहे।

परतु हिंदू-शास्त्र किस वैधव्य की स्तुति और स्वागत करता है ? १५ वर्प की मुग्धा के वैधव्य का नही जो कि विवाह का अर्थ भी नही जानती। वाल-विधवाओ के लिए वैधव्य धर्म नही, अधर्म है। वासती देवी को मदन खुद आकर ललचावे तो वह भस्म हो जाय। वासती देवी के शिव की तरह तीसरी आख है। परतु पद्रह वर्प की वालिका वैधव्य की शोभा को क्या समझ सकती है ? उसके लिए तो वह अत्याचार ही है। वाल-विधवाओ की वृद्धि मे मुझे

हिंदू-धर्म की अवनति दिखाई देती है। वासती देवी-जैसी के वैधव्य मे मै शुद्ध धर्म का पोपण देखता हू। वैधव्य सव तरह, सव जगह, सव समय, अनिवार्य सिद्धात नही है। वह उस स्त्री के लिए धर्म है जो उसकी रक्षा करती है।

रिवाज के कुए मे तैरना अच्छा है। उसमे डूवना आत्म-हत्या है।

जो वात स्त्री के सवध मे वही वात पुरुप के सवध मे होनी चाहिए। राम ने यह कर दिखाया। सती सीता का त्याग भी वह सह सके। अपने ही किये त्याग से खुद ही जले। जव से सीता गई तव से रामचद्र का तेज घट गया। सीता के देह का तो त्याग उन्होने किया, पर उसे अपने हृदय की स्वामिनी वना लिया। उस दिन से उन्हे न तो शृगार भाया, न दूसरा वैभव। कर्तव्य समझ-कर तटस्थता के साथ राज्य-कार्य करते हुए शात रहे।

जिस वात को आज वासती देवी सह रही है, जिसमे से वह अपने विलास को हटा सकती है, वे वाते जवतक पुरुप न करेंगे तवतक हिंदू-धर्म अधूरा है। 'एक को गुड और दूसरे को थूहर' यह उल्टा न्याय ईश्वर के दरवार मे नही हो सकता। परतु आज हिंदू-पुरुपो ने इस ईश्वरीय कानून को उलट दिया है। स्त्री के लिए वैधव्य कायम रखा है और अपने लिए श्मशान-भूमि मे ही दूसरे विवाह की योजना करने का अधिकार!

वासती देवी ने अवतक किसीके देखते, आसू की एक वूद तक नही गिराई है। फिर भी उनके चेहरे पर तेज तो आ ही नही रहा है। उनकी मुखाकृति ऐसी हो गई है कि मानो भारी वीमारी से उठी हो। यह हालत देखकर मैने उनसे निवेदन किया कि थोडा समय निकलकर वाहर हवा खाने चलिये। मेरे साथ मोटर मे तो वैठी, पर वोलने क्यो लगी? मैने कितनी ही वाते चलाई—वह सुनती रही। पर खुद उसमे वराय नाम शरीक हुई। हवाखोरी की तो, पर पछताई। सारी रात नीद न आई। "जो वात मेरे पति को अतिशय प्रिय थी वह आज इस अभागिनी ने की। यह क्या

शोक है ?" ऐसे विचारो मे रात गई। भोवल (उनका लडका) मुझे यह खबर दे गया! आज मेरा मौनवार है। मैने कागज पर लिखा है—"यह पागलपन हमे माताजी के सिर से निकालना होगा। हमारे प्रियतम को प्रिय लगनेवाली बहुतेरी बातें हमे उनके वियोग के बाद करनी पडती है। माताजी विलास के लिए मोटर मे नही बैठी थी, केवल आरोग्य के लिए बैठी थी। उन्हे स्वच्छ हवा की बहुत जरूरत थी। हमे उनका बल बढाकर उनके शरीर की रक्षा करनी होगी। पिताजी के काम को चमकाने और बढाने के लिए हमे उनके शरीर की आवश्यकता है। यह माताजी से कहना।"

"माताजी ने तो मुझसे कहा था कि यह बात ही आपसे न कही जाय। पर मुझसे न रहा गया। अभी तो यही उचित मालूम होता है कि आप उन्हे मोटर मे बैठने के लिए न कहे।"—भोवल ने कहा।

बेचारा भोवल! किसीका लौटाये न लौटने वाला लडका आज बकरी जैसा बनकर बैठा है! उसका कल्याण हो!

पर इस साध्वी विधवा का क्या? वैधव्य प्यारा लगता है, फिर भी असह्य मालूम होता है। मुधन्वा खौलते हुए तेल के कडाह मे भटकता था और मुझ-जैसे दूर रहकर देखनेवाले उसके दुःख की कल्पना करके कापते थे। सती स्त्रियो, अपने दुःख को तुम सभाल कर रखना! वह दुःख नही, सुख है। तुम्हारा नाम लेकर बहुतेरे पार उतर गये है और उतरेगे।

वासती देवी की जय हो![1]

---

[1] हिंदी नवजीवन २-७-२५

: २५ :

स्वामी श्रद्धानंद

जिसकी उम्मीद थी वह ही गुजरा। कोई छ महीने हुए स्वामी श्रद्धानदजी सत्याग्रहाश्रम में आकर दो-एक दिन ठहरे थे। वातचीत मे उन्होने मुझसे कहा था कि उनके पास जव-तव ऐसे पत्र आया करते थे जिनमे उन्हे मार डालने की धमकी दी जाती थी। किस सुधारक के सिर पर वोली नही वोली गई है? इसलिए उनके ऐसे पत्र पाने मे अचभे की कोई वात नही थी। उनका मारा जाना कुछ अनोखी वात नही है।

स्वामीजी सुधारक थे। वह कर्मवीर थे, वचनवीर नही। जिसमे उनका विश्वास था, उसका वह पालन करते थे। उन विश्वासो के लिए उन्हे कष्ट झेलने पडे। वह वीरता के अवतार थे। भय के सामने उन्होने कभी सिर नहीं झुकाया। वह योद्धा थे और योद्धा रोग-शैय्या पर मरना नही चाहता। वह तो युद्ध-भूमि का मरण चाहता है।

कोई एक महीना हुआ कि स्वामी श्रद्धानदजी वहुत वीमार पडे। डाक्टर असारी उनकी चिकित्सा करते थे। जितने अनुराग से उनसे सभव था, डाक्टर अंसारी उनकी सेवा करते थे। इस महीने के शुरु मे मेरे पूछने पर उनके पुत्र प्रो० इद्र ने तार दिया था कि स्वामीजी अव अच्छे है और मेरा प्रेम और दुआ मागते है। मै उनके विना मागे ही उनपर प्रेम और उनके लिए भगवान से प्रार्थना करता ही रहता था।

भगवान को उन्हे शहीद की मौत देनी थी। इसलिए जव वह वीमार ही थे तभी उस हत्यारे के हाथ मारे गये, जो इस्लाम पर धार्मिक चर्चा के नाम पर उनसे मिलना चाहता था, जो स्वामीजी की प्रेरणा से आने दिया गया, जिसने प्यास मिटाने को पानी मागने के वहाने स्वामीजी के ईमानदार नौकर धर्मसिह को पानी लेने

को बाहर हटा दिया और जिसने नौकर की गैरहाजिरी में बिस्तर पर पड़े हुए रोगी की छाती मे दो प्राण-घातक चोटें की। स्वामीजी के अतिम शब्दो की हमे खबर नही। लेकिन अगर मैं उन्हें कुछ भी पहचानता था तो मुझे बिल्कुल सदेह नही है कि उन्होंने अपने परमात्मा से उसके लिए क्षमा-याचना की होगी, जो यह नही जानता था कि वह पाप कर रहा है। इसलिए गीता की भाषा में वह योद्धा धन्य है जिसे ऐसी मृत्यु प्राप्त होती है।

मृत्यु तो हमेशा ही धन्य होती है, मगर उस योद्धा के लिए तो और भी अधिक जो अपने धर्म के लिए यानी सत्य के लिए मरता है। मृत्यु कोई शैतान नही है। वह तो सबसे बड़ी मित्र है। वह हमें कष्टों से मुक्ति देती है। हमारी इच्छा के विरुद्ध भी हमें छुटकारा देती है। हमे बराबर ही नई आशाए, नये रूप देती है। वह नींद के समान मीठी है, किंतु तो भी किसी मित्र के मरने पर शोक करने का चलन है। अगर कोई शहीद मरता है तो यह रिवाज नही रहता। अतएव इस मृत्यु पर मैं शोक नही कर सकता। स्वामीजी और उनके सबधी ईर्ष्या के पात्र है, क्योंकि श्रद्धानदजी मर जाने पर भी अभी जीते है। उससे भी अधिक सच्चे रूप मे वह जीते है जब वह हमारे बीच अपने विशाल शरीर को लेकर घूमा करते थे। ऐसी महिमामय मृत्यु पर जिस कुल मे उनका जन्म हुआ था, जिस जाति के वह थे, सभी धन्यता के पात्र है। वह वीर पुरुष थे। उन्होंने वीर-गति पाई।[1]

स्वामी श्रद्धानद की दृष्टि से इस प्रसग को धर्म-प्रसग कहेंगे। वह बीमार थे। मुझे तो कुछ खबर न थी, किंतु एक मित्र ने खबर दी कि स्वामीजी भाग्य से ही बच जाय तो बच जाय। पीछे से मेरे तार के उत्तर मे उनके लड़के का तार मिला कि उन्हे धीरे-धीरे आराम हो रहा है। यह भी मालूम हुआ कि डाक्टर अंसारी बहुत

[1] हिंदी नवजीवन, २३-१२-२६

अच्छी तरह सेवा-शुश्रूषा कर रहे है। इस प्रकार की गभीर बीमारी मे वह बिछौने पर पडे थे और उसपर ही उनके प्राण लिये गये। मरना तो सबको है, किंतु यो मरना किस काम का! सारे हिंदुस्तान मे और पृथ्वी पर जहा-जहा हिंदुस्तानी लोग होगे, वहा-वहा स्वामीजी के, स्वाभाविक बीमारी से, मरने से जो असर होता उसकी अपेक्षा इस अपूर्व मरण से अजीब ही असर होगा। मैंने भाई इद्र को समवेदना का एक भी तार या पत्र नही लिखा है। उन्हे और कुछ दूसरा कह ही नही सकता। इतना ही कह सकता हू कि तुम्हारे पिता को जो मृत्यु मिली है, वह धन्य मृत्यु है।

किंतु यह सब बात तो मैंने स्वामीजी की दृष्टि से, मेरी अपनी दृष्टि से की है। मै अनेक बार कह चुका हू कि मेरे लेखे हिंदू और मुसलमान दोनो ही एक है। मै जन्म से हिंदू हू और हिंदू-धर्म मे मुझे शाति मिलती है। जब-जब मुझे अशाति हुई, हिंदू-धर्म मे से ही मुझे शांति मिली है। मैंने दूसरे धर्मो का भी निरीक्षण किया है और इसमे चाहे जितनी कमिया और त्रुटिया होवे तो भी मेरे लिए यही धर्म उत्तम है। मुझे ऐसा लगता है और इसीसे मै अपनेको सनातनी हिंदू मानता हू। कितने ही सनातनियो को मेरे इस दावे से दु ख होता है कि विलायत से आकर यह सुधरा हुआ आदमी हिंदू कैसा! किंतु मेरा हिंदू होने का दावा इससे कुछ कम नही होता और यह धर्म मुझे कहता है कि मै सबके साथ मित्रता से रहू। इसीसे मुझे मुसलमानो की दृष्टि भी देखनी है।

मुसलमान की दृष्टि से जब इस बात का विचार करता हू तो मुझे दूसरी ही बात मालूम पडती है। यह काड मुसलमान के हाथ बन पडा, धर्म-चर्चा के बहाने घर मे प्रवेश करके उसने यह कृत्य किया। नौकर ने तो कहा, "स्वामीजी बीमार है। आज नही मिल सकते।" दरवाजे पर हुज्जत हुई। स्वामीजी ने सुनकर कहा, "अच्छा है, आ जाने दो।" और स्वामीजी मे उससे बात करने की शक्ति न रहने पर भी उन्होने बाते की। बात करने की तो उनमे ताकत ही नही थी। स्वामीजी को तो उसे समझाकर विदा

कर देने को था, इसलिए बुलाकर कहा, "भाई, अच्छे हो जाने पर तुम्हे जितनी बहस करनी हो कर लेना, किंतु आज तो बिछौने पर पडा हू ।" इसपर उसने पानी मागा । धर्मसिंह को स्वामीजी ने आज्ञा दी, "इनको पानी पिला दो ।" आज्ञाकारी नौकर पानी लेने जाता है, तबतक तो यहा उसने रिवाल्वर निकाल ली । एक से सतोष न हुआ तो दो गोली मारी । स्वामीजी ने उसी समय प्राण खोये । धर्मसिंह आवाज सुनकर अपने मालिक को बचाने दौडा, किंतु बचावे कौन ? ईश्वर को स्वामीजी के शरीर की रक्षा नही करनी थी ।

हमारे लिए यह एक अच्छा शिक्षा-पाठ बनना चाहिए कि स्वामीजी का खून अब्दुलरशीद के हाथो हो । उससे हम एक-दूसरे को समझ ले ।

श्रद्धानदजी और मेरे बीच कैसा सबध था, वह तो आज मै यहा नही कहूगा । मेरे सामने वह अपने दिल की बाते कहा करते थे । कोई छ महीने हुए जब वह आश्रम मे आये थे तब कहते थे, "मेरे पास धमकी के कितने पत्र आते है । लोग धमकी देते है कि तुम्हारी जान ले ली जायगी, पर मुझे उनकी कुछ परवा नही ।" वह तो बहादुर आदमी थे । उनसे बढकर बहादुर आदमी मैने ससार मे नही देखा । मरने का उन्हे डर नही था, क्योकि वह सच्चे आस्तिक, ईश्वरवादी आदमी थे । इसीसे उन्होने कहा--मेरी जान अगर ले ही ली जाय तो उसमे होना ही क्या है ?[१]

स्वामीजी से मेरा पहला परिचय तब हुआ जब वह महात्मा मुशीराम के नाम से प्रसिद्ध थे । वह परिचय भी पत्रो से हुआ । उस समय वह कागडी गुरुकुल के प्रधान थे, जोकि उनका सबसे पहला और बडा शिक्षा-क्षेत्र का काम है । वह सिर्फ पश्चिमी शिक्षा-पद्धति से ही सतुष्ट न थे । लडको मे वे वेद-शिक्षा का प्रचार करना

---

[१] हिंदी नवजीवन, ६-१-२७

चाहते थे और वह पढाते थे हिंदी के जरिए, अग्रेजी के नही। शिक्षा-काल मे वह उन्हे ब्रह्मचारी रखना चाहते थे। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रहियो के लिए उस समय जो धन इकट्ठा किया जा रहा था, उसमे चदा देने के लिए लडको को उन्होने उत्साहित किया था। वह चाहते थे कि लडके खुद कुली वनकर, मजदूरी करके चदा दे, क्योकि वह युद्ध क्या कुलियो का नही था ? लडको ने यह सब पूरा कर दिखाया और पूरी मजदूरी कमाकर मेरे पास भेजी। इस विषय मे स्वामीजी ने मुझे जो पत्र भेजा था, वह हिंदी मे था। उन्होने मुझे 'मेरे प्रिय भाई' कहकर लिखा था। इसने मुझे महात्मा मुशीराम का प्रिय बना दिया। इससे पहले हम दोनो कभी मिले नही थे।

हम लोगो के बीच के सूत्र ऐंड्र्यूज थे। उनकी इच्छा थी कि जब कभी मै देश लौटू, उनके तीनो मित्रो, कवि ठाकुर, प्रिंसिपल रुद्र और महात्मा मुशीराम से परिचय प्राप्त करू।

वह पत्र पाने के बाद से हम दोनो एक ही सेना के सैनिक बन गये। उनके प्रिय गुरुकुल मे हम १९१५ मे मिले और उसके बाद से हरेक मुलाकात मे हम दोनो परस्पर निकट आते गये और एक दूसरे को ज्यादा अच्छी तरह समझने लगे। प्राचीन भारत, सस्कृत और हिंदी के प्रति उनका प्रेम असीम था। बेशक, असहयोग के पैदा होने के बहुत पहले से ही वह असहयोगी थे। स्वराज के लिए वह अधीर थे। अस्पृश्यता से वह नफरत करते थे और अस्पृश्यो की स्थिति ऊची करना चाहते थे। उनकी स्वाधीनता पर कोई बधन लगाना वह नही सह सकते थे।

जब 'रौलट ऐक्ट' का आदोलन शुरू हुआ तो उसे सबसे पहले शुरू करनेवालो मे से वह थे। उन्होने मुझे बहुत ही प्रेम से भरा हुआ एक पत्र भेजा। किंतु वीरमगाम और अमृतसर-काड के बाद सत्याग्रह को स्थगित किया जाना वह नही समझ सके। उस समय से हमारे बीच मतभेद शुरू हुए, किंतु उससे हम लोगो के भाई-भाई के सबध मे कभी कोई अतर नही पड़ा। उस मतभेद

से मुझपर उनका बाल-सुलभ स्वभाव प्रकट हुआ। परिणाम का विचार किये विना ही, उन्हे जैसा मालूम था मुझसे सच्ची बात कह दी। वह अतिसाहसिक थे। समय बीतनेके साथ-साथ हम दोनो में जो स्वभाव का अतर था, उसे मै देखता गया, किंतु उससे तो उनकी आत्मा की शुद्धता ही सिद्ध हुई। सबको सुनाकर विचार करना कुछ पाप नही है। यह तो एक गुण है। यह सत्य-प्रियता का सर्वप्रधान लक्षण है। स्वामीजी ने अपने विचार गुप्त रखे ही नही।

वारडोली के निश्चय से उनका दिल टूट गया। मुझसे वह निराश हो गये। उनका प्रकट विरोध बहुत जबर्दस्त था। मेरे नाम उनके निजी पत्रो मे और भी विरोध होता था, किंतु हमारे मतभेद पर जितना वह जोर देते थे, प्रेम पर भी उतना ही। प्रेम का विश्वास केवल पत्रो मे ही दिला देने मे वह सतुष्ट न थे। मौका मिलने पर उन्होने मुझे ढूढ निकाला और मुझे अपनी स्थिति समझाई और मेरी समझने की कोशिश थी। मगर मुझे मालूम होता है कि मुझे ढूढने का असल कारण यह था कि अगर जरूरत हो तो मुझे वह विश्वास दिला सके कि एक छोटे भाई के समान मुझपर उनकी प्रीति जैसी-की-तैसी बनी हुई है।

आर्यसमाज और उसके सस्थापक पर मेरे मतो से और उनके नाम का उल्लेख करने से उन्हे बहुत कष्ट हुआ, परतु इस धक्के को सह लेने की शक्ति हमारी मित्रता मे थी। वह यह नही समझ सकते थे कि महर्षि के विषय मे मेरे मतो और अपने व्यक्तिगत शत्रुओ के प्रति ऋषि की असीम क्षमा का एक साथ कैसे मेल बैठ सकता है। महर्षि मे उनकी इतनी अधिक श्रद्धा थी कि उनपर या उनकी शिक्षाओ पर कोई भी टीका वह सह नही सकते थे।

शुद्धि-आदोलन के लिए मुसलमान पत्रो मे उनकी बडी कड़ी आलोचनाए और निंदा की गई है। मै स्वय उनके दृष्टि-बिंदु को स्वीकार नही कर सका था। अब भी मै उसे नही मानता। किंतु मेरी नजर मे, अपने दृष्टि-बिंदु से वह, अपनी स्थिति का पूरा बचाव

करते थे, जवतक शुद्धि और तवलीग मर्यादा के भीतर रहे, तव तक दोनो ही वरावर छूट के अधिकारी है।

अगर हम हिंदू और मुसलमान दोनो शुद्धि का आतरिक अर्थ समझ सकते तो स्वामीजी की मृत्यु से भी लाभ उठाया जा सकता था।

एक महान सुधारक के जीवन के स्मरणो को मै सत्याग्रहाश्रम में, उनके कुछ महीनो पहले के आखिरी आगमन की वात के विना खत्म नही कर सकता। वह मुसलमानो के दुश्मन नही थे। कुछ मुसलमानो का विश्वास वह वेशक नही करते थे, किंतु उन लोगो से उनका कुछ द्वेष नही था। उनका खयाल था कि हिंदू दवा दिये गये है और उन्हे वहादुर वनकर अपनी और अपनी इज्जत की रक्षा करने योग्य वनना चाहिए। इस वारे मे उन्होने मुझसे कहा था कि "मेरे विपय मे वडी गलतफहमी फैली हुई है। मेरे विरुद्ध कही जानेवाली कई वातो मे मै विल्कुल निर्दोप हू। मेरे पास धमकी के कितने एक पत्र आया करते है।" मित्रगण उन्हे अकेले चलने से मना करते थे। मगर यह परम आस्तिक पुरुप उनका जवाव दिया करता था, "ईश्वर की रक्षा के सिवाय और किस रक्षा का मै भरोसा करू? उसकी आज्ञा के विना एक तिनका भी नही हिलता। मै जानता हू कि जवतक वह मुझसे इस देह के द्वारा सेवा लेना चाहता है, मेरा वाल वाका नही हो सकता।"

आश्रम मे रहते समय उन्होने आश्रम-पाठशाला के लडके-लडकियो से वाते की। उनका कहना था कि हिंदू-धर्म की सवसे वडी रक्षा आत्म-शुद्धि से ही होगी, भीतर से ही होगी। चारित्र्य और शरीर के गठन के लिए ब्रह्मचर्य पर वह वहुत जोर देते थे।[1]

• •

वीर पुरुप को जव ऐसी मृत्यु मिलती है तो वह उसे

---

[1] हिंदी नवजीवन, ६-१-२७

मित्र के समान गले लगाता है। किंतु इसमे कोई यह नही चाहता कि उसका कोई खून करे। कोई भी अपने साथ अन्याय करे, गुनह-गार बने, कोई भी मनुष्य दुष्कृत्य करे, ऐसी इच्छा ही करना अनुचित है।

स्वामीजी वीरो के अग्रणी थे। अपनी वीरता से उन्होने भारत को आश्चर्य-चकित कर दिखाया। इसका साक्षी मै हू कि देश के लिए अपना शरीर कुर्बान करने की उन्होने प्रतिज्ञा ली थी। वह अनाथ-बधु थे। अछूतो के लिए उन्होने जितना किया उतने अधिक हिंदुस्तान मे दूसरे किसीने नही किया। उनकी दूसरी सेवाओ का वर्णन मै यहा करना नही चाहता। स्वामीजी के जैसे वीर, देशभक्त, ईश्वर के अनन्यभक्त और सेवक का खून देश के लिए जैसा लाभदायक है, वैसा ही, उसे दु ख होना भी स्वाभाविक है, क्योकि हम लोग अपूर्ण मनुष्य है।

स्वामीजी आत्म-बलिदान से दूसरा ही धर्म बतला गये है। उन्होने एक बार मुझसे पूछा था कि आर्यसमाज उदार कैसे नही ? आप क्या जानते है कि महर्षि दयानद ने अपनेको जहर देनेवाले के साथ क्या किया था। मैने जवाब दिया कि मै महर्षि की क्षमाशीलता को जानता हू। मगर स्वामीजी तो महर्षि के भक्त थे। उन्होने सारी कथा कह सुनाई। महर्षि क्षमाशील थे, क्योकि उनके आगे युधिष्ठिर का उज्ज्वल उदाहरण था। वह उपनिषदो के भक्त थे। श्रद्धानदजी भी वैसे ही क्षमाशील थे। शुद्धि पर बाते करते समय उन्होने एक बार कहा था कि "मै मुसलमानो को हिंदुओ का दुश्मन नही मानता।" 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धात का उपदेश करने वाले और गीता के भक्त श्रद्धानदजी किसीको दुश्मन क्योकर मान सकते थे ? उन्होने कहा, "मै मुसलमानो को भाई मानता हू, मित्र मानता हू, किंतु हिंदू को भी भाई मानता हू और उनकी सेवा करना चाहता हू।"

आज श्रद्धानदजी के लिए आसू बहाने का समय नही है।

आज तो क्षत्रियता बताने का अवसर है। क्षत्रियता क्षत्रिय का खास गुण भले ही हो मगर ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र सभी उसे दिखा सकते है। खासकर आज का 'स्वराज युग' हम सबके लिए क्षत्रियता का युग है। इसलिए रोने की बात छोड दे और श्रद्धानदजी के बलिदान से, रशीद के किये खून से जो पाठ मिले उसे हृदय मे धरे।[1]

स्वामीजी का देहात हुआ ही नही है। देहात तो तब होगा जब हम उनकी सच्ची देह को मिटाने की कोशिश करेगे। अगर्चे कि सच्ची बात तो यह है कि हमारी कोशिश से भी उनकी देह का नाश होने को नही है। जबतक यह गुरुकुल कायम है, जबतक एक भी स्नातक गुरुकुल की सेवा करता है, तबतक स्वामीजी जीते ही है। स्वामीजी का शरीर तो किसी दिन गिरने को था ही। पर स्वामीजी का सबसे बडा काम गुरुकुल है, उन्होने अपनी सारी शक्ति इसमे लगा दी थी। इसे पैदा करने मे उन्होने अधिक-से-अधिक तपश्चर्या की थी। तुमने सत्य की प्रतिज्ञा ली है। अगर तुम अपने वचन का पालन करोगे तो किसीकी शक्ति नही कि वह गुरुकुल को मिटा दे।

पर गुरुकुल को चिरस्थायी रखने के लिए उस वीरता, ब्रह्मचर्य और क्षमा की जरूरत है, जो हमने उनके जीवन मे देखी। वीरता का लक्षण क्षमा, और ब्रह्मचर्य और वीर्य का सयम है। वीरता और वीर्य की रक्षा से तुम देश और धर्म की पूरी-पूरी रक्षा कर सकोगे। मै जानता हू कि यह काम मुश्किल है। तुम्हारे यहा के बहुत-से विद्यार्थियो के पत्र मेरे पास पडे हुए है। कोई मेरी स्तुति करता है तो कोई गाली देते है। स्तुति तो नाकाम चीज है। उसका असर मेरे ऊपर नही होता। परतु जब विद्यार्थी चिढकर गाली देते है तो मुझे चिता होती है क्योकि क्रोध से वीर्य का नाश

[1] हिंदी नवजीवन, १३-१-२७

होता है। स्वामीजी के सामने मैंने ब्रह्मचर्य की अपनी व्याख्या रखी थी और वह मेरे साथ सम्मत थे। किसी स्त्री का सन्निन स्पर्श न करने से ही ब्रह्मचर्य नहीं होता। हां, ब्रह्मचर्य वहां से शुरू जरूर होता है। पर क्षमा की पराकाष्ठा ब्रह्मचर्य का लक्षण है। पिछले साल स्वामीजी जब टंकारिया से लौटते समय मुझसे मिलने गये थे तो उन्होंने मुझसे कहा कि 'हिंदूधर्म की रक्षा-नीति से ही संभव है।' अगर तुम वैदिक आचार और विचार की रक्षा करना चाहते हो तो तुम यह वस्तु याद रखो कि तुम्हें पग-पग पर रुपये मिल जायंगे, मगर ब्रह्मचर्य का नीति का पाया यहां पर न होगा तो तुम्हारा गुरुकुल मिट्टी में मिल जायगा इस भूमि के तो आत्मा नहीं है। इसकी आत्मा तुम्हीं हो। अगर तुम आत्म-बल खो दोगे और 'उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः' जैसे बन जाओगे तो तुम्हारी सारी शिक्षा बेकार जायगी।

मैं आज तुम्हारे आगे चर्खा और खादी की बात करने नहीं आया हूं। तुम्हारा पहला काम ब्रह्मचर्य और वीरता का—क्षमा का है। उसे भूल जाओगे तो स्वामी जी का नाम कायम नहीं रहेगा। रशीद की गोली से स्वामीजी का क्या हुआ? वह तो उस गोली से ही अमर हुए।

स्वामीजी का दूसरा काम अछूतोद्धार था। जिन शब्दों में मालवीयजी ने खादी की वकालत की, मैं नहीं कर सकता। पर इतना जरूर कहूंगा कि अगर हम हमेशा गरीबों और अछूतों की फिक्र रखेंगे तो खादी से अलग नहीं रह सकते।

ईश्वर तुम सबके ब्रह्मचर्य, सत्य और तुम्हारी प्रतिज्ञाओं की रक्षा करे, गुरुकुल का कल्याण करे और स्वामीजी का [illegible] काम परमात्मा चालू रखे।[1]

---

[1] हिंदी नवजीवन, ३१-३-२७

: २६ :

श्रीनिवास शास्त्री

दक्षिण अफ्रीका-निवासी भारतीयो को यह सुनकर बडी तसल्ली होगी कि माननीय शास्त्री ने पहला भारतीय राजदूत बनकर अफ्रीका मे रहना स्वीकार कर लिया है, बशर्ते कि सरकार वह स्थान ग्रहण करने के प्रस्ताव को आखिरी बार उनके सामने रखे। भारत-सेवक-समिति और शास्त्रीजी ने यह बडा ही त्याग किया है, जो वह इस निर्णय पर पहुचे है। यह तो एक प्रकट रहस्य है कि यदि यह प्रस्ताव नही किया जाता तो वह भारत मे अपना काम छोडकर इस जिम्मेदारी को अपने सिर पर लेने के जरा भी इच्छुक नही थे। परतु जब उनसे साग्रह यह अनुरोध किया गया कि वह ही एक ऐसे आदमी है, जो उस समझौते के अनुसार कार्य शुरू कर सकते है, जिसके स्वीकृति कराने मे उनका बहुत भारी हाथ रहा है, तो उन्हे इस प्रार्थना और आग्रह को मजूर करना ही पडा। दक्षिण अफ्रीका से समय-समय पर जो तार भेजे गये थे उनसे हमे पता चलता है कि वहा के अग्रेज भी इस बात के लिए कितने उत्सुक थे कि शास्त्रीजी ही इस सम्माननीय पद को ग्रहण करे। शास्त्रीजी की वक्तृत्व-शक्ति, निस्पृहता, मधुर विवेक-शीलता और असीम सचाई ने यूनियन सरकार और वहा के यूरोपीय लोगो के हृदय मे उनके लिए चाह और आदर उत्पन्न कर दिया, जब वह हबीबुल्ला-शिष्टमडल के साथ कुछ दिन के लिए दक्षिण अफ्रीका गये थे। मै खुद जानता हू कि हमारे दक्षिण अफ्रीका-निवासी भाई इस बात के लिए कितने असीम चितातुर थे कि किस प्रकार शास्त्रीजी ही, वहा भारत के पहले राजदूत बनकर जाय। और श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्रीजी के लिए भी तो, जिन्हे परमात्मा ने ऐसे उदार हृदय से भूषित किया है, ऐसे सर्वसम्मत अनुरोध को अस्वीकार करना असभव था। अब यह प्राय निश्चित है कि शीघ्र

ही उनकी बाकायदा नियुक्ति होकर, उसकी खबर प्रकाशित कर दी जायगी।

इन पहले राजदूत का काम भी उनके लिए निश्चित कर दिया जायगा। निस्सदेह, यूनियन सरकार और हमारे दक्षिण अफ्रीका के भारतीय भाई भी भारत के इस पहले राजदूत से बडी-बडी आशाए तो करते ही होगे। चूकि शास्त्रीजी स्वय भारतीय और एक विख्यात पुरुष है, निस्सदेह यूनियन सरकार जरूर यह सोचती होगी कि जहातक भारतीयो से सबध है, उन्हे समझा-बुझाकर शास्त्रीजी सरकार के प्रस्तावो आदि का काम सरल कर देगे। दूसरे शब्दो मे यो कहिये कि यूनियन सरकार उनसे आशा करती है कि शास्त्रीजी उसकी बातो को भारतीय समाज तथा भारत-सरकार के सामने सहानुभूति-पूर्वक रखेगे। इधर भारतीय समाज भी आशा करता है कि शास्त्रीजी इस बात का जरूर आग्रह करेगे कि समझौते का सम्मानयुक्त, बल्कि उदारता-पूर्वक पालन हो। दो प्रतिस्पर्धी उम्मीदवारो को सतुष्ट करना यो कठिन तो है ही, पर दक्षिण अफ्रीका मे, जहा कि जातियो और दलो के स्वार्थों मे आश्चर्यजनक पारस्परिक विरोध है, यह काम कही अधिक मुश्किल है। किंतु मै जानता हू कि अगर इस सूक्ष्म तराजू को अपने हाथ मे कोई उठा सकता है और दक्षिण अफ्रीका मे सबध रखनेवाले सभी दलो को सतुष्ट कर सकता है तो अकेले शास्त्रीजी ही एक ऐसे आदमी है। मेरा खयाल है कि यूनियन सरकार के मत्री यह तो अपेक्षा नही रखते होगे कि भारतीय समाज को उनके न्याय्य स्वत्वो को दिलाने मे शास्त्रीजी इच भर भी पीछे हट जाय। हा, अधिक-से-अधिक शास्त्रीजी यह कर सकते है कि वह भारतीयो को १९१४ के समझौते का उल्लघन करके आगे बढने से रोके, कम-से-कम तबतक तो जरूर रोकें, जबतक कि वहा के भारतीय अनुकरणीय आत्मसयम और अपने अन्य व्यवहार द्वारा १९१४ मे प्राप्त किये समझौते से आगे बढने की अपनी पात्रता को सिद्ध नही कर देते। अत यदि इस दक्षिण अफ्रीका के हमारे भारतीय भाई

भारत के प्रतिनिधि के काम को सरल और अपनी परिस्थिति को सुरक्षित कर लेना चाहे तो वे उनसे बडे-बडे चमत्कारो की आशाए करना छोड दे ।"उनका यह अनुमान गलत होगा कि "चूकि हम अभी एक सम्माननीय समझौता करा चुके है और उसपर अमल कराने के लिए भारत का एक महान पुरुष हमारे यहा आ रहा है, इसलिए अव तो हमारी परिस्थिति मे एकदम कायापलट हो जायगा।" उन्हे याद रखना चाहिए कि माननीय शास्त्रीजी वहा उनके वकील बनकर, उनके प्रत्येक व्यक्तिगत शिकायत के लिए लडने को नही जा रहे है । उनको मामूली व्यक्तिगत शिकायते सुना-सुनाकर परेशान करना उस सोने के अडे देनेवाले पक्षी की हत्या करने के समान है। वह तो वहा भारतीय सम्मान के रक्षक बनकर जा रहे है । सर्वसाधारण भारतीय समाज के स्वत्व और स्वाधीनता की रक्षा के लिए वह वहा जा रहे है । शास्त्रीजी वहा यह देखने के लिए जा रहे है कि यूनियन सरकार कही कोई नवीन रुकावटी कानून न बनाने पाये। अलावा इसके वह देखेगे कि वर्तमान कानूनो का पालन उदारता-पूर्वक तो हो रहा है । उनके पालन मे भारतीयो के स्वत्वो को कोई हानि तो नही हो रही है, आदि । अत यदि उनसे कोई व्यक्तिगत शिकायत की भी जाय तो वह किसी व्यापक सर्वसाधारण नियम का उदाहरण-स्वरूप हो । इस लिए यदि व्यक्तिगत मामलो मे शास्त्रीजी की सहायता मागने मे दक्षिण अफ्रीका का भारतीय समाज दूरदर्शी सयम से काम न लेगा तो वह उनकी परिस्थिति को असह्य और उस महान् उद्देश्य के लिए उन्हे असमर्थ बना देगा जिसके लिए वह वहा विशेष रूप से भेजे गये है । और सचमुच एक राजदूत की उपयोगिता केवल यही समाप्त नही हो जाती कि वह केवल सरकारी पद से सबध रखनेवाले अपने कर्तव्य का पालनभर कर ले, बल्कि उसकी वह अप्रत्यक्ष सेवा कही अधिक उपयोगी है जो सरकारी तथा गैरसरकारी कामो को लेकर उससे मिलने-जुलनेवाले लोगो पर उसके मिलनसार स्वभाव और सच्चरित्र के प्रभाव द्वारा होती है । अत यदि

हमारे देशभाई शास्त्रीजी के दिमागी और हृदय के महान गुणो का उपयोग करना चाहे तो वे मेरी बनाई उपर्युक्त मर्यादाओ का जरूर ख्याल रखे ।[1]

इस सप्ताह मे मिले पत्र मे एक सज्जन ने क्लर्कस्डोप की प्रसिद्ध घटना का, जिसके बारे मे दक्षिण अफ्रीका के अखबारो के पन्ने-के-पन्ने भरे रहते है, आखो देखा सच्चा वर्णन किया है। यूनियन सरकार के नि सकोच पूरी और स्पष्ट माफी माग लेने से यद्यपि इस घटना पर राजनैतिक दृष्टि से अब कुछ भी कहना बाकी नही रह जाता है और न कुछ कहने की जरूरत ही है तो भी इस षडयत्र के सामने जिसका कि परिणाम श्री शास्त्रीजी के लिए प्राणात भी हो सकता था, उन्होने जो उदारता और हिम्मत का व्यवहार किया है उसकी प्रशसा कितनी ही क्यो न की जाय वह कम ही होगी। मेरे सामने जो पत्र है उससे मालूम होता है कि जिस सभा मे वह व्याख्यान दे रहे थे, उसको तोड देने के लिए डेप्टीमेयर के नेतृत्व मे जो दल आया था उसने बत्तिया बुझा दी, फिर भी वह भारत माता का सच्चा सपूत और प्रतिनिधि अपने स्थान पर यत्किचित् भी घबडाये बिना डटा रहा, जरा भी न हटा और जब भडाका होने के कारण सभा के हाल मे श्रोताओ को सास लेना भी मुश्किल हो गया तब वह बाहर गये और वहा, जैसे कोई बात ही नही हुई हो, इस घटना के प्रति इशारा तक न करते हुए उन्होने अपना व्याख्यान पूरा किया। यो तो इस घटना के पहले ही दक्षिण अफ्रीका के यूरोपियनो मे वह प्रिय हो गये थे, परतु शास्त्रीजी के इस धीर हिम्मतभरे और उदार आचरण ने वहा के यूरोपियनो के विचार मे उन्हे और भी अधिक गौरवान्वित कर दिया है और क्योकि उन्हे अपने लिए यश नही चाहिए था (शास्त्रीजी से अधिक कीर्त्ति से लजानेवाले मनुष्य कदाचित् ही मिल सकेगे) उन्होने,

---

[1] हिंदी नवजीवन, २८-४-२७

जिस काम के वह प्रतिनिधि थे, उसके लाभ मे अपनी लोकप्रियता का वडी योग्यता और सफलता-पूर्वक उपयोग किया। दक्षिण अफ्रीका मे उनके वहुत ही थोडे समय के निवास मे उन्होने अपने देशवासियो का गौरव वहुत वढा दिया है। हम यह आशा करे कि वहा के भारतीय अपने आदर्श व्यवहार से अपनेको उस गौरव के योग्य प्रमाणित करेगे।

परतु दक्षिण अफ्रीका के मुश्किल और नाजुक प्रश्न को हल करने मे उनके कार्य का महत्व केवल इसीपर, जो एक घटना-मात्र है, निर्भर नही है। हम उनके दफ्तर की भीतरी कार्यवाही के विषय मे, सिवा उनके परिणामो के कुछ नही जानते। पर इसमे उन्हे उस सारी राजनीति-कला का उपयोग करना पडता था जो अपने पक्ष के सत्य होने के विश्वास से प्राप्त होती है तथा जो झूठ, कपट तथा नीचता को कभी वरदाश्त नही कर सकती। परतु हम यह जरूर जानते है कि सस्कृत और अग्रेजी की अपार विद्वता और जुदा-जुदा विषयो का ज्ञान, वाक्यपटुता इत्यादि कुदरत से प्रचुरता मे मिली हुई वख्शीशो को अपने कार्य के लिए उपयोग करने मे उन्होने कोई कसर नही की है। चुनदा यूरोपियनो के वडे श्रोतृ-समूह के आगे वह भारतीय तत्वज्ञान और सस्कृति पर व्याख्यान देते थे, जिससे उनके दिलो पर वडा असर होता था और उस पक्षपात के परदे को, जिसके कारण यूरोपियनो का वडा समूह अवतक भारतीयो मे कोई गुण ही नही देख सकता था, उन्होने पतला कर दिया है। दक्षिण अफ्रीका मे भारतीयो के प्रश्न मे, ये व्याख्यान ही शायद उनका सवसे वडा और अधिक स्थायी हिस्सा है।[१]

मौत ने न सिर्फ हमारे वीच से, वल्कि समूची दुनिया के

[१] हिंदी नवजीवन, १८-१०-२८

बीच मे भारत-माता के एक बड़े-से-बड़े सपूत को उठा लिया है। उनके परिचय मे आनेवाला हरकोई देख सकता था कि वह हिंदुस्तान को बहुत ही प्यार करते थे। पिछले दिनों जब मैं उनसे मद्रास मे मिला था, उन्होंने सिवा हिंदुस्तान और उसकी संस्कृति के, जिनके लिए वह जीये और मरे, दूसरी किसी बात की चर्चा ही नहीं की। जब वह मृत्यु-शय्या पर पड़े दीखते थे, तब भी मुझे विश्वास है कि उनको अपनी कोई चिंता नही थी। उनका संस्कृत-ज्ञान अंग्रेजी के उनके अगाध ज्ञान से ज्यादा नही तो कम भी न था। मुझे एक ही बात और कहनी है और वह यह कि अगरचे राजनीति मे हमारे खयाल एक-दूसरे से मिलते नही थे, तो भी हमारे दिल एक ही थे और मैं यह कभी सोच नही सकता कि उनकी देशभक्ति हमारे किसी बडे-से-बडे देशभक्त से कम थी। शास्त्रीजी जिंदा हैं, यद्यपि उनका नामधारी शरीर भस्म हो चुका है।[1]

२७

नारायण हेमचंद्र

स्वर्गीय नारायण हेमचन्द्र विलायत आये थे। मैं सुन चुका था कि वह एक अच्छे लेखक हैं। नेशनल इंडियन एसो-सिएशनवाली मिस मैनिंग के यहां उनसे मिला। मिस मैनिंग जानती थी कि सबसे हिल-मिल जाना मैं नहीं जानता। जब कभी मैं उनके यहां जाता तब चुपचाप बैठा रहता। तभी बोलता, जब कोई बातचीत छेड़ता।

उन्होंने नारायण हेमचंद्र से मेरा परिचय कराया।

नारायण हेमचंद्र अंग्रेजी नहीं जानते थे। उनका पहनावा

---

[1] हरिजन सेवक, २१-४-४६

विचित्र था। वेढगी पतलून पहने थे। उसपर था एक वादामी रग का मैला कुचैला-सा पारसी काट का वेडौल कोट। न नेकटाई, न कालर। सिर पर ऊन की गुथी हुई टोपी और नीचे लवी दाढी।

वदन इकहरा, कद नाटा कह सकते है। चेहरा गोल था, उसपर चेचक के दाग थे। नाक न नोकदार थी न चपटी। हाथ दाढी पर फिरा करता था।

वहा के लाल-गुलाल फैशनेवल लोगो मे नारायण हेमचद्र विचित्र मालूम होते थे। वह औरो से अलग छटक पडते थे।

"आपका नाम तो मैंने वहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढे है। आप मेरे घर चलिये न ?"

नारायण हेमचद्र की आवाज जरा भर्राई हुई थी। उन्होने हंसते हुए जवाव दिया—

"आप कहा रहते है ?"

"स्टोर स्ट्रीट मे।"

"तव तो हम पडोसी है। मुझे अग्रेजी सीखना है। आप सिखा देंगे ?"

मैंने जवाव दिया—"यदि मै किसी प्रकार भी आपकी सहायता कर सकू तो मुझे वडी खुशी होगी। मै अपनी शक्ति भर कोशिश करूगा। यदि आप चाहे तो मै आपके यहां भी आ सकता हू।"

"जी नही, मै खुद ही आपके पास आऊगा। मेरे पास पाठमाला भी है। उसे लेता आऊगा।"

समय निश्चित हुआ। आगे चलकर हम दोनो मे वडा स्नेह हो गया।

नारायण हेमचद्र व्याकरण जरा भी नही जानते थे। 'घोडा' क्रिया और 'दौडा' सज्ञा वन जाती है। ऐसे मजेदार उदाहरण तो मुझे कई याद है। परतु नारायण हेमचद्र ऐसे थे, जो मुझे भी हजम कर जाय। वह मेरे अल्प व्याकरण-ज्ञान से अपनेको भुला देनेवाले जीव न थे। व्याकरण न जानने पर वह किसी प्रकार लज्जित न होते थे।

"मै आपकी तरह किसी पाठशाला मे नही पढा हू । मैने अपने विचार प्रकट करने मे कही व्याकरण की सहायता की जरूरत नही दिखाई दी । अच्छा, आप बगला जानते है ? मै तो बगला भी जानता हू । मै बगाल मे भी घूमा हू । महर्षि देवेन्द्रनाथ टगोर की पुस्तको का अनुवाद तो गुजराती जनता को मैने ही दिया है । अभी कई भाषाओ के सुदर ग्रथो के अनुवाद करने है । अनुवाद करने मे भी शब्दार्थ पर नही चिपटा रहना । भावमात्र दे देने से मुझे सतोष हो जाता है । मेरे बाद दूसरे लोग चाहे भले ही सुदर वस्तु दिया करें । मै तो बिना व्याकरण पढे मराठी भी जानता हू, हिंदी भी जानता हू और अब अग्रेजी भी जानने लग गया हू । मुझे तो सिर्फ शब्द-भडार की जरूरत है । आप यह न समझ ले कि अकेली अग्रेजी जान लेने भर से मुझे सतोष हो जायगा । मुझे तो फ्रास जाकर फ्रेंच भी सीख लेनी है । मै जानता हू कि फ्रेंच साहित्य बहुत विशाल है । यदि हो सका तो जर्मन जाकर जर्मन भाषा भी सीख लूगा ।"

इस तरह नारायण हेमचद्र की वाग्धारा बे-रोक बहती रही । देश-देशातरो मे जाने व भिन्न-भिन्न भाषा सीखने का उन्हे असीम शौक था ।

"तब तो आप अमेरिका भी जरूर ही जावेगे ।"

"भला इसमे भी कोई सदेह हो सकता है । उस नवीन दुनिया को देखे बिना कही वापस लौट सकता हू !"

"पर आपके पास इतना धन कहा है ?"

"मुझे धन की क्या जरूरत पडी है ? मुझे आपकी तरह तडक-भडक तो रखना है ही नही । मेरा खाना कितना और पहनना क्या ? मेरी पुस्तको से कुछ मिल जाता है और थोडा-बहुत मित्र लोग दे दिया करते है, वह काफी है । मै तो सर्वत्र तीसरे दर्जे मे ही सफर करता हू । अमेरिका तो डेक मे जाऊगा ।"

नारायण हेमचद्र की सादगी बस उनकी अपनी थी । हृदय भी उनका वैसा ही निर्मल था । अभिमान छू तक नही गया था ।

लेखक के नाते अपनी क्षमता पर उन्हे आवश्यकता से भी अधिक विश्वास था।

हम रोज मिलते। हमारे बीच विचार तथा आचार-साम्य भी काफी था। दोनो अन्नाहारी थे। दोपहर को कई बार साथ ही भोजन करते। यह मेरा वह समय था, जब मै प्रति सप्ताह सत्रह शिलिंग मे ही अपना गुजरा करता और खाना खुद पकाया करता था। कभी मै उनके मकान पर जाता तो कभी वह मेरे मकान पर आते। मै अग्रेजी ढग का खाना पकाता था, उन्हे देशी ढग के बिना सतोष नही होता था। उन्हे दाल जरूरी थी। मै गाजर इत्यादि का रसा बनाता। इसपर उन्हे मुझपर बडी दया आती। कही से वह मूग ढूढ लाये थे। एक दिन मेरे लिए मूग पकाकर लाये, जो मैने बडी रुचि-पूर्वक खाये। फिर तो हमारा इस तरह का देने-लेने का व्यवहार बहुत बढ गया। मै अपनी चीजो का नमूना उन्हे चखाता और वह मुझे चखाते।

इस समय कार्डिनल मैनिग का नाम सबकी जबान पर था। डाक के मजदूरो ने हडताल कर दी थी। जानबर्स और कार्डिनल मैनिग के प्रयत्नो से हडताल जल्दी बद हो गई। कार्डिनल मैनिग की सादगी के विषय मे जो डिसरैलो ने लिखा था, वह मैने नारायण हेमचद्र को सुनाया।

"तब तो मुझे उस साधु पुरुष से जरूर मिलना चाहिए।"

"वह तो बहुत बडे आदमी है। आपसे क्यो कर मिलेगे ?"

"इसका रास्ता मै बता देता हू। आप उन्हे मेरे नाम से एक पत्र लिखिये कि मै एक लेखक हू। आपके परोपकारी कार्यो पर आपको धन्यवाद देने के लिए प्रत्यक्ष मिलना चाहता हू। उसमे यह भी लिख दीजिएगा कि मै अग्रेजी नही जानता। इसलिए—अपना नाम लिखिए—बतौर दुभाषिए के मेरे साथ रहेगे।"

मैने इस मजमून का पत्र लिख दिया। दो-तीन दिन मे कार्डिनल मैनिग का कार्ड आया। उन्होने मिलने का समय दे दिया था।